पाक्षिक

सारिका

टाइम्स आफ इंडिया प्रकाशन

वर्ष : 25, अंक : 372, जनवरी '85 प्रथम पक्ष, मूल्य : 4 रुपये

ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता कथाकार विशेषांक-एक

रजत जयंती वर्ष का प्रथम उपहार

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

भारत के सर्वोच्च साहित्यिक पुरस्कार 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' से सम्मानित शीर्षस्थ भारतीय साहित्यकारों की अनन्य रचनायें

ज्ञानपीठ पुरस्कार	लेखक	पुस्तक	मूल्य
1965	जी. शंकर कुरुप	ओटक्कुषल	10.00
	ओटक्कुषल अर्थात् "बांसुरी" मलयालम की काव्य कृति है ।		
1966	ताराशंकर बन्द्योपाध्याय	गणदेवता	42.00
	बंगाल के ग्राम्य जीवन पर आधारित उपन्यास ।		
1967	उमाशंकर जोशी	निशीथ	48.00
	गुजराती मूल के साथ हिन्दी काव्य रूपान्तर ।		
1967	कु. वे. पुटप्पा	श्री रामायण-दर्शनम्	9.00
	महाछन्दों में रचित कन्नड़ का अद्वितीय महाकाव्य ।		
1968	सुमित्रानंदन पंत	चिदम्बरा	7.00
	चिदम्बरा तथा अन्य कृतियों से संकलित पंत जी की प्रतिनिधि कविताओं का संग्रह । अनेक भारतीय भाषाओं में भी उपलब्ध ।		
1969	फिराक गोरखपुरी	बज़्मे ज़िन्दगी रंगे शायरी	35.00
	फिराक साहब की श्रेष्ठतम रचनाओं का संकलन देवनागरी लिपि में ।		
1971	विष्णु दे	स्मृति सत्ता भविष्यत्	12.00
	देवनागरी में बंगला मूल के साथ हिन्दी काव्य रूपान्तर ।		
1972	रामधारी सिंह दिनकर	संचयिता	32.00
	कवि दिनकर द्वारा स्वयं संजोया हुआ काव्य-संकलन ।		
1973	गोपीनाथ महान्ती	माटी-मटाल	40.00
	उड़ीसा के ग्राम्य-जीवन का गौरव-ग्रंथ । पूरा उपन्यास दो भागों में ।		
1973	द. रा. बेन्द्रे	चार तार	15.00
	44 कविताओं का संकलन कन्नड़ मूल के साथ हिन्दी रूपान्तर ।		

ज्ञानपीठ पुरस्कार	लेखक	पुस्तक	मूल्य
1976	आशापूर्णा देवी	प्रथम प्रतिश्रुति (लघु नाट्य रूपान्तर)	3.00
		सुवर्णलता (उपन्यास)	45.00
		बकुलकथा (उपन्यास)	45.00
1977	शिवराम कारंत	मूकज्जी	27.00
	कन्नड़ उपन्यास का हिंदी रूपान्तर ।		
1978	अज्ञेय	कितनी नावों में कितनी बार	18.00
	अज्ञेय जी द्वारा 1962 से 1966 के बीच रची गयी श्रेष्ठ कविताओं का संग्रह ।		
1979	बीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य	मृत्युंजय	38.00
	असमिया उपन्यास का हिन्दी रूपान्तर ।		
1980	एस. के. पोट्टेक्काट	कथा एक प्रान्तर की	50.00
	मलयालम उपन्यास का हिंदी रूपांतर ।		
1981	अमृता प्रीतम	अमृता प्रीतम : चुनी हुई कवितायें	35.00
		अमृता प्रीतम : सेलेक्टेड पोयम्स	38.00
		अमृता प्रीतम : चुने हुए उपन्यास	90.00
		अमृता प्रीतम : चुनी हुई कहानियां, चुने हुए निबंध	50.00
		कोरे कागज (लघु उपन्यास)	15.00
1982	महादेवी वर्मा	महादेवी : प्रतिनिधि गद्य रचनाएं	45.00
		महादेवी : प्रतिनिधि कविताएं	35.00
1983	मास्ति वेंकटेश अय्यंगार	चिक्कवीरराजेंद्र (उपन्यास)	48.00
		परकाय प्रवेश (कथा-संग्रह)	35.00
		सुब्बण्णा (लघु उपन्यास)	
		पुस्तकालय सं.	10.00
		पेपर बक	5.00

हम चाहते हैं कि अच्छी से अच्छी पुस्तकें कम से कम दाम पर आप तक पहुंचे

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड
नई दिल्ली-110003

पाठकों की सुविधा एवं बचत के लिए

नये रूपाकार में सारिका का पहला अंक आपके हाथों में है. इस रूपाकार में हम आपको 100 पृष्ठों से अधिक की सामग्री 76 पृष्ठों में ही दे सकेंगे. जबकि मूल्य में वृद्धि केवल 50 पैसे की ही की जा रही है. इसके अतिरिक्त यदि आप वार्षिक चंदा हमें सीधे भेजें तो वर्ष में आपको 6 रुपये की और भी बचत हो सकती है. आपको करना केवल इतना है कि अपने शुल्क की राशि हमें बैंक ड्राफ्ट/मनीआर्डर/पोस्टल आर्डर के साथ नीचे दिये गये कूपन के साथ तत्काल भेज दें.

शुल्क की रियायती दरें इस प्रकार हैं :

देश में (बंगलादेश, नेपाल सहित)

वार्षिक : 90 रुपये

छमाही : 47 रुपये

विदेश में सिर्फ समुद्री डाक से :

144 रुपये वार्षिक

कृपया मुझे/हमें निम्न पते पर एक वर्ष/छह मास के लिए 'सारिका' भेजने की व्यवस्था करें. समुचित राशि संलग्न है.

नाम ....

पता ....

....

....

हस्ताक्षर ....

शुल्क तथा कूपन कृपया इस पते पर भेजें.
मुख्य प्रसार प्रबंधक
सारिका, टाइम्स ऑफ इंडिया,
7, बहादुरशाह जफर मार्ग,
नयी दिल्ली-110002

अगला अंक

रजत जयंती वर्ष पर पहले उपहार की दूसरी कड़ी

ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता

कथाकार विशेषांक-दो

अखिलंदम, बीरेंद्रकुमार भट्टाचार्य, कु. वें. पुट्टप्पा, उमाशंकर जोशी, मास्ति व्यंकटेश अय्यंगार, स. ही. वात्स्यायन अज्ञेय, एस. के. पोट्टेकाट्ट, आशापूर्णा देवी की कथा-रचनाएं

विशेष

दामन निचोड़ दें तो फरिश्ते वज़ू करें...
स्व. साहू शांति प्रसाद जैन के भव्य व्यक्तित्व के साक्षात् कराता अयोध्या प्रसाद गोयलीय द्वारा अनूठा संस्मरणात्मक रेखाचित्र...

- ज्ञानपीठ के निदेशक बिशन टंडन का महत्वपूर्ण आलेख

साक्षात्कार

- भारतीय ज्ञानपीठ के प्रबंधक ट्रस्टी अशोक जैन से अवधनारायण मुद्गल की महत्वपूर्ण बातचीत
- ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता कथाकार—कवि अज्ञेय और बीरेंद्रकुमार भट्टाचार्य से सारगर्भित बातचीत
- ज्ञानपीठ के सलाहकार लक्ष्मीचंद्र जैन से वीरेंद्र जैन की जानकारी पूर्ण बातचीत.

विविध

- स्व. रामधारी सिंह दिनकर और अमृता प्रीतम की डायरी के संग्रहणीय पृष्ठ.
- प्रख्यात बंगला कवि विष्णु दे का कोणार्क के सूर्य मंदिर पर यात्रा-संस्मरण.
- वे साहित्यकार जिन्हें नहीं मिला है यह पुरस्कार उनकी योजनाएं क्या हैं... कि वे इस पुरस्कार से प्राप्त राशि का उपयोग किस तरह से करेंगे... एक रोचक परिचर्चा.
- और साथ में : बहुत कुछ जिसे एक साथ पढ़ने के लिए जरूरी है कि अपनी प्रति अभी से बुक करायें.

सारिका पढ़ने का मतलब है हर पखवारे एक जरूरी मुलाकात

सारिका

सहायक संपादक :
अवधनारायण मुद्गल
उप संपादक :
रमेश बतरा
सुरेश उनियाल
बलराम
महेश दर्पण
वीरेंद्र जैन
सज्जा :
सुमीता

कहानियों और कथा जगत की जीवंत पाक्षिकी
वर्ष 25, अंक : 372; 1 से 15 जनवरी, 1985

ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता
कथाकार विशेषांक-एक

पुरस्कार प्रतीक-वाग्देवी की यह प्रतिमा मूलतः धार-स्थित सरस्वती मंदिर की है जिसकी स्थापना विद्या-व्यसनी उज्जयिनी नरेश भोज ने 1035 ईसवी में की. प्रतिमा अब ब्रिटिश म्यूजियम, लंदन में है. भारतीय ज्ञानपीठ ने साहित्य-पुरस्कार के प्रतीक के रूप में उसे ग्रहण करते हुए शिरोभाग के पार्श्व में एक प्रभामंडल और सम्मिलित किया है. इसमें तीन रश्मि-पुंज हैं जो भारत के एक प्राचीनतम तोरण, कंकाली टीला मथुरा के तोरण, के 'रत्नत्रय' को प्रतीकित करते हैं. प्रतिमा के आधारपीठ कमल में 15 पंखुड़ियां हैं जो भारतीय संविधान में स्वीकृत 15 भारतीय भाषाओं की द्योतक हैं. हाथ में कमंडलु, पुस्तक, अनाल कमल और अक्षमाला ज्ञान तथा ऊर्ध्व-चेतना के प्रतीक हैं.

[illegible] : पवन महेंद्र

रचनात्मक खंड

कथा रचनाएं

16. गणदेवता : ताराशंकर बंद्योपाध्याय
31. अवगुंठन : सुमित्रानंदन पंत
41. उपनिषद का जन्म : मास्ति व्यंकटेश अय्यंगार
45. नाम याद नहीं : गोपीनाथ महांति
50. दांपत्य का भ्रम : शिवराम कारंत
60. कठपुतलियां : विष्णुसखाराम खांडेकर
68. यह कैसा संबंध : विश्वनाथ सत्यनारायण

कविताएं: ग़ज़लें : गीत

28. नक्षत्र गीत : जी. शंकर कुरुप
34. अनुभूति : सुमित्रानंदन पंत
38. स्मृति सत्ता भविष्यत् : विष्णु दे
53. दो ग़ज़लें : फिराक गोरखपुरी
59. एक गीत : महादेवी वर्मा

संस्मरण : आत्मकथ्य

18. आत्मरक्षा का कोई कवच ... : ताराशंकर बंद्योपाध्याय
28. कविता मेरे लिए .... : जी. शंकर कुरुप
29. मैं और मेरा परिवेश : सुमित्रानंदन पंत
32. कविवर सुमित्रानंदन पंत : रामकुमार वर्मा
52. मेरे नग्मों को नींद आती है : फिराक गोरखपुरी
55. कहानी अल्पजीवियों का महाकाव्य है : दत्तात्रेय रामचंद्र बेंद्रे
56. सितार के सामने : महादेवी वर्मा

परिचयात्मक खंड

9. एक दृष्टि-अगोचर नदी जैसा व्यक्तित्व : कुबेरनाथ राय
11. भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार : संकल्प से संसिद्धि तक : लक्ष्मीचंद्र जैन
12. कैसे चुनाव होता है पुस्तक का?
15. प्रवर परिषद का प्रारंभ और दंबीर आशंकाएं
71. भारतीय चिंतन, संस्कृति और साहित्य के प्रति समर्पित
74. उन्होंने कहा था...

साक्षात्कार

66. प्रदेशवाद से साहित्य का प्रयोजन ही नष्ट हो जाता है : जैनेंद्र कुमार के साथ सुरेश उनियाल [illegible] बातचीत

संपादकीय पता : सारिका, 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

आपकी बात

वर्ष : २४; अंक : ३६८; १-१५ नवंबर, १९८४

मार्मिक दस्तावेज

'सारिका' का अंक 368 एक मार्मिक दस्तावेज है. विशेषकर अमरकांत की 'दर्पण' आज के कुचक्र को उजागर करती है. वास्तव में जनतंत्र की दशा धर्मतंत्र जैसी हो गयी है. जैसे गाय चरानेवाले कृष्ण, बकरी चरानेवाले मोहम्मद, नंगे रहनेवाले ईसा और भूखे रहनेवाले बुद्ध के स्थान पर आगा खान, बालयोगेश्वर, प्रभातरंजन सरकार और रजनीश अब धर्म के प्रवर्तक हैं, वैसे ही आचार्य नरेंद्र देव, रफी अहमद किदवई और लालबहादुर शास्त्री के स्थान पर डॉ. कर्ण सिंह, विश्वनाथ प्रताप सिंह और श्यामाचरण शुक्ल जनतंत्र के असली पुजारी हैं. विश्व में कहीं भी जनतंत्र नहीं है, जो है वह कुलीनतम है. सांसद के चुनाव की व्यय सीमा नब्बे प्रतिशत जनता की संपूर्ण हैसियत से अधिक है.

● फजलुल हसन रिजवी, लखनऊ

नयी पीढ़ी में विकसित संस्कृति

'सारिका' के 368 अंक में प्रकाशित सावित्री परमार की कहानी 'खंडहर पर मंडराती चीलें' पढ़ी. लेखिका ने जिस ज्वलंत एवं जीवंत प्रश्न को उठाकर, कहानी का कलेवर प्रस्तुत किया है वह रोचक एवं सामयिक है तथा आज की नयी पीढ़ी में विकसित संस्कृति पर करारा प्रहार है. जिन घटनाओं को संजोकर पात्रों का परिचय करवाया वह भी मन को अच्छा लगा. अतः सावित्रीजी बधाई की पात्र हैं.

● डा. ओ. पी. वैद, जबलपुर

जीवन की सच्चाई

कहानी 'मौत एक लहर की' बेहद अच्छी लगी. इस कहानी में जीवन की वास्तविक त्रासदी का बड़ी मार्मिकता से चित्रण किया गया है.

कहानी का एक-एक बोल जीवन की सच्चाई उगलता मालूम होता है. कहानी की मुख्य पात्रा 'मनिषा' एक सशक्त पात्र है और फिर क्षमाशीलता का एक बहुत बड़ा गुण अपने में समेटे हुए है. वह अपने मूल्यवान जीवन के लुटेरे जोगेंद्र को भी माफ कर देती है. निर्मल कुमार की यह कहानी शुरू से अंत तक प्रभाव बनाये रखती है, और उसे इस अंक की सर्वोत्कृष्ट कहानी माना जा सकता है.

एक अन्य कहानी 'खंडहर पर मंडराती चीलें' कुछ हद तक ठीक लगी. कहानी का विषय तो घिसा-पिटा है किंतु सावित्री परमार ने इस कहानी का प्रस्तुतीकरण बेहद प्रभावी ढंग से किया है. अन्य कहानियां भी अपनी जगह ठीक ही हैं. कुछ लघुकथायें बहुत गहरा अर्थ लेकर लिखी गई हैं. जैसे धीरेंद्र अस्थाना की 'आदमी', फजल इमाम मलिक की 'तकदीर' एवं अशफाक अहमद की 'तीसरा दौर'.

समकालीन कहानी का वर्णनात्मक विवेचन बहुत साफ-सुथरा एवं प्रभावपूर्ण रहा.

● नरेंद्र चूरा, जोधपुर

इस तंत्र को उखाड़ना जरूरी

अमरकांत की रचना 'दर्पण' वर्तमान समाजसेवा के ढोंग का पर्दाफाश करने में सक्षम सिद्ध हुई है. समाज सेवा के नाम पर किस तंत्र की पेट-पूजा होती है, यह बात किसी से छिपी नहीं है. वास्तव में लड़ाई तो इसी तंत्र के विरुद्ध करने की जरूरत है. जिसने अपंग बना रखा है समूचे भारत को. कुलदीपक भारती जैसे राजनीतिक-समाजसेवकों की कमी नहीं है. यहां. मुख्य बात तो घंटी बांधने की है. आखिर किसी न किसी को तो पहल करनी ही होगी.

'कुचरने दो कागा को' में लेखक विकास कुमार झा ने तेतरी को मानसिक द्वंद्व में फंसाकर नारी को अपाहिज बनाने का प्रयास किया है. नारी वैसे अपनी जकड़न के लिए खुद भी जिम्मेदार है क्योंकि वह चाहते हुए भी विद्रोह नहीं कर पाती. अधिकारों व स्वतंत्र विचरण के लिए नारी विद्रोह पुरुष वर्ग को दुविधाग्रस्त जरूर बना देगा परंतु उत्पीड़ित होते रहना भी तो कायरता है.

समकालीन कथाकारों की बहस रचनापद्धति में सुधारक सिद्ध होगी ऐसा मेरा विश्वास है.

● सीताराम कपूर, शाहजहांपुर

सुविधापरक समझौतों की दुनिया

'सारिका' : 368 में करुणानिधान का संस्मरण आज के तथाकथित प्रतिबद्ध रचनाकारों और पत्रकारों को जीवंत प्रेरणा तथा साफ दिशा निर्देश देता है. विगत दिनों नफीस आफरीदी के उपन्यास के एक पात्र 'कामरेड फत्तू' पर अब्दुल बिस्मिल्लाह द्वारा लिखित तथा एक हिंदी दैनिक में प्रकाशित आलोचना में 'क्रांतिकारी चरित्र के अंतर्विरोध' का आरोप इस आधार पर लगाया गया था कि वह किसी अन्य मजदूर परिवार की सहानुभूति में इस सीमा तक व्यस्त रहता है कि उसका स्वयं का परिवार बरबादी की कगार पर आ खड़ा होता है. करुणानिधानजी का उपरोक्त संस्मरण विद्वान आलोचक को एक स्पष्ट दिशा देगा तथा उन्हें उनके अपने तथाकथित जनवादी चरित्र के अंतर्विरोध से अवगत करायेगा, ऐसा मेरा विश्वास है. सुविधापरक समझौतों की दुनिया में जीने वाले पत्रकारों तथा रचनाकारों को करुणानिधानजी के इस संस्मरण से सबक लेना चाहिए और स्थिति रक्षा के संघर्षों में जीवन शक्ति का अपव्यय करने के स्थान पर उसका सोद्देश्य सहेतुक एवं आत्मविकासोन्मुख प्रगतिमूलक प्रगतिकारक संघर्षों में सदुपयोग करना चाहिए.

● नीरज 'अशेष' बदायूं,

कहानी और सामाजिक सरोकार

'सारिका' के जरिये काफी दिनों बाद कहानी का माहौल गर्म हुआ है. बधाई. उम्मीद है कि सिलसिला जारी रहेगा.

कथा-बहसों, खासकर यादवजी-नामवरजी वाली बहस के प्रसंग में डा. निर्मला जैन की टिप्पणी प्रकाशित कर आपने 'सारिका' के पाठकों का बड़ा कल्याण किया है. दो टूक बातें करके निर्मलाजी ने सुलझी दृष्टि का परिचय दिया है. उतनी, जितनी कथा-बहसों में नहीं दीख मिली थी. आज के तमाम खेमेबाज लेखकों-आलोचकों की तरह वह किसी खास पूर्वग्रह से ग्रस्त भी नहीं लगीं. शायद इसीलिए 'राजनीति', 'वाद' तथा 'सामाजिक यथार्थ' से जुड़ी कहानियों पर निजी आशंकाओं की बौछार करते हुए भी उन्होंने संजीव की प्रशंसा भी की है. उन्होंने उन निर्मल वर्मा की कमजोरियों की तरफ भी बाकायदा इशारा किया है जिन्हें नामवर सिंह ने अनेक बार प्रेमचंद के बाद सबसे बड़े कथाकार के रूप में थोपने की कोशिश की है.

पर कथा-बहसों की ही तरह इस विचारोत्तेजक और जरूरी चर्चा में भी उस सवाल की चर्चा से परहेज ही किया गया जो कहानी के

मूल्यांकन की एक अनिवार्य शर्त है. वह सवाल है, कहानी की सोद्देश्यता का, उसके सामाजिक सरोकार का. बुनियादी तौर पर इस सवाल के प्रकाश में कहानी की चर्चा-व्याख्या किये बगैर क्या किसी कहानी या कहानीकार को अच्छा या बुरा, बड़ा या छोटा, महिला या पुरुष (बहस में महिला और पुरुष कथाकारों में भेद करने का नजरिया सामंती है) करार दिया जा सकता है? प्रेमचंद का अब तक सर्वश्रेष्ठ बने रहने का आखिर क्या मानदंड है? क्या इस मानदंड की तलाश प्रमुखता के साथ हर कहानी या रचना में नहीं की जानी चाहिए? अवश्य ही.

शेष कहानी-संगठन, भाषा-सौंदर्य संबंधी निर्मलाजी की मांग से भला कौन असहमत हो सकता है? वस्तुतः इनका अभाव या कमजोरी व्यापक सामाजिक सरोकारवाली रचना को भी प्रभावी और सफल होने से रोकती है.

● मदन मोहन, गोरखपुर

रिश्ते का लगाव

'दर्पण', 'रामधन भाई', 'बहती हुई कोख' और 'मौत एक लहर की' कहानियां बहुत अच्छी लगीं. खासकर बहती हुई कोख. . .इसमें रिश्ते के लगाव की छुअन और गहराई नहीं है. शायद लेखक का भी यही अभीष्ट है—अपनी तमाम प्यास और छिछोरेपन के साथ एक 'कोख' बने रहना. बधाई हो. 'देहरादून रे देहरादून' (रवींद्रनाथ त्यागी) एक समर्थ सुंदर और गहरा व्यंग्य है, जिसमें बांधे रखने की अजीब क्षमता है.

● कुमार अरुण, सारण (बिहार)

संदर्भ : बहती हुई कोख

'सारिका' का अंक 368 देखा, पढ़ा, परखा. बड़ी अच्छी कहानियां और अन्य पठनीय सामग्री मिली. पर इस अंक की जो सबसे खूबसूरत कहानी बन पड़ी है वह है—प्रियंवद की 'बहती हुई कोख'. गजब की कहानी बन पड़ी है यह. इसकी जितनी भी बड़ाई की जाय, कम होगी. बरसों बाद ऐसी कहानी पढ़ने को मिली है जिसमें काव्य-दर्शन-मनोविज्ञान का सम्यक संतुलित समंजसित आनंद एक साथ मिले. स्वयं रचना-प्रक्रिया को ही, स्वयं सृजनात्मकता को ही एक सजीव सशक्त लंबी कहानी के रूप में ढाल देना—सारी अनुभूति, सारे संघर्ष-द्वंद्व, सारे सौंदर्य-रस को बरकरार रखते हुए—यह प्रियंवद की एक अन्यतम उपलब्धि है. करतार सिंह दुग्गल की 'सांझ ढले' और निर्मल कुमार की 'मौत एक लहर की' भी काफी पसंद आईं.

● रवींद्रनाथ ओझा, बेतिया (पं. चंपारण)

नगरीय परिवेश

हलचल के इस पखवारे के शीर्षक ने ध्यान आकर्षित किया. आजकल लिखा तो बहुत जा रहा है पर क्या उसका 90 प्रतिशत नगरीय परिवेश से संबंधित नहीं होता? भारत के प्राण ग्रामों पर जो कुछ लिखा जा रहा है, क्या वह उस क्षेत्र की विशालता देखते हुए संतोषजनक है? मैं सागर वि. वि. के भवन में आयोजित गोष्ठी में मा. नित्यानंद तिवारीजी के कथन से पूर्णतः सहमत हूं कि ग्रामीण जीवन से संबंधित उपन्यास विश्व भर में महा-काव्यात्मक ऊंचाई तक पहुंचे हैं. आज भारतीय ग्रामीण जीवन भी प्रगति के साथ विभिन्न जटिलताओं एवं समस्याओं को अपने में समेटे हुए हैं. किंतु उस परिप्रेक्ष्य में कुछ मनोरंजक रुचिकर सृजन हमारे अधिकांश साहित्यकार नहीं कर पा रहे हैं अथवा कर ही नहीं रहे हैं. तथा जितना कुछ हो रहा है वह पर्याप्त अथवा संतोषप्रद नहीं है. इसका एक कारण संभवतः यह भी है कि महत्वपूर्ण तथा लब्ध-प्रतिष्ठित कथाकार, पहले जो ग्रामीण परिवेश से जुड़े थे अब लगभग नगरीय हो गये हैं. अतः उनका लेखक अपने मूलपूर्व प्रेरक-सागर से मथकर नवनीत नहीं निकाल पा रहा है. नहीं तो क्या कारण है कि 'रागदरबारी' या 'आधा गांव' के उपरांत वे ही लोग कुछ विशेष क्यों नहीं दे पाये. पत्रिकाएं भी वे ही कथायें अधिकतर छापती हैं जो नगरीय व्यवस्था से जुड़ी रहती हैं. जबकि आज ग्रामीण अंचल पर बहुत कुछ रचने की आवश्यकता है. उसकी त्रासदियों को मुखर करने की आवश्यकता है. यदि यहां (साहित्य) में भी उसे वाणी नहीं मिलेगी तो कौन से माध्यम (नाटक, फिल्म) से वह स्वयं को व्यक्त करवा पाने की प्रत्याशा कर सकती है? आज भारतीय कथा 'नगरवासिनी' हो गयी है. उसे पुनः 'ग्रामवासिनी' बनाना होगा. पर इसके लिए अब हम किस प्रेमचंद अथवा रेणु की बाट जोहें तथा कब तक?

● नवल किशोर मिश्र, धारणी (महाराष्ट्र).

तस्वीर बोलती है

सारिका—अंक : ३६७

पुरस्कार विजेताओं को बधाई

प्रथम पुरस्कार : ५० रुपये

खेलकूद की कौन उमर है,
मैंने कभी न जानी,
पैदा होते जुड़ी खेत से
अपनी राम-कहानी.

● अनुपमा कुमारी श्रीवास्तव, द्वारा श्री वेदनंदन सहाय, शीतल टोला, आरा, जिला : भोजपुर (बिहार).

द्वितीय पुरस्कार : ३० रुपये

इसमें सच्ची समता के दाने बोने हैं,
इसमें जन की क्षमता के दाने बोने हैं,
इसमें मानव-ममता के दाने बोने हैं—
जिससे उगल सके फिर धूल सुनहली फसलें
मानवता की—जीवन श्रम से हंसे दिशाएं.
—सुमित्रानंदन पंत

● सुनीता जोशी, द्वारा श्री जी. बी. जोशी, 81/5, लेबर कालोनी, नैनी, इलाहाबाद

तृतीय पुरस्कार : २० रुपये

उमर गलाकर मां-बापू ने कितना काम किया होगा
बीस पसीने के कतरों पर बिरवा एक उगा होगा
बोनेवाला फसल उठाने का अधिकार अगर पाए
इससे बढ़कर सुख दुनिया में भला बताओ क्या होगा?

● मदन पांडेय, आधारिक विद्यालय, किछा, जिला—नैनीताल (उ. प्र.).

प्रशंसित शीर्षक

हजार गम सही दिल में, मगर खुशी ये है,
हमारे होंठों पर मांगी हुई हंसी तो नहीं.

● मनोज अरोरा, हाथरस (उ. प्र.).

ग्राफ में रेखा गरीबी की बहुत ऊपर उठी
किंतु इतना ही हुआ हम निर्धनों का उन्नयन
खेत भर श्रम और केवल एक मुट्ठी भर अनाज
खोखली खाली हंसी है, शुष्क आशंकित नयन.

● अतीत सक्सेना, बदायूं (उ. प्र.).

जीवन की हर सांस सजाए, इक-इक बाली,
अरमानों के दिए जलाए, इक-इक बाली,
जहां-जहां श्रम बिंदु संजोए, कर्मठ बाहें,
खुशियों की निर्झरी बहाए, इक-इक बाली.

● सुधांशु शेखर, बंबई. □

अपनी बात

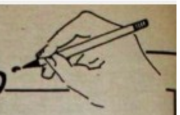

ज्ञानपीठ पुरस्कार : भारतीय साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार जैसे सम्मान का आयोजन

जब हमने नोबेल पुरस्कार विजेता कथाकार विशेषांक प्रकाशित किये थे तो उनकी सफलता ने हमारे मन में यह अंकुर प्रस्फुटित किया कि भारतीय साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार जैसे ही सम्मानित और महत्वपूर्ण ज्ञानपीठ पुरस्कार पर भी विशेषांक निकाले जायें. हलते-हलते अंतिम रूप से यही निश्चय हुआ कि इन विशेषांकों से 'सारिका' के रजत जयंती वर्ष की शुरुआत की जाये. इस तरह रजत जयंती वर्ष का यह पहला पुष्प आपके हाथों में है.

पिछले 24 वर्षों से 'सारिका' ने हिंदी और भारतीय साहित्य की जो सेवा की है, वह आप सब को अच्छी तरह विदित है. फिर भी हम आत्मावलोकन के रूप में पिछले 24 वर्षों में प्रकाशित अपनी दृष्टि से 24 सर्वश्रेष्ठ कहानियां चुन रहे हैं और उनमें से एक कहानी प्रत्येक अंक में प्रकाशित करने जा रहे हैं. इस पूरे वर्ष को 'सारिका' रजत जयंती वर्ष के रूप में ही मनाने जा रही है. इसलिए इस वर्ष का प्रत्येक अंक कथ्य की दृष्टि से विशेषांक (विशिष्ट सामग्रीवाला अंक) ही होगा. कुछ नयी योजनाएं भी हम इस वर्ष आपके सामने रखेंगे, जिनकी घोषणा अगले अंकों में की जायेगी.

ज्ञानपीठ पुरस्कार जैसा कि आप जानते हैं कि इसके समानांतर भारतीय साहित्य के लिए कोई दूसरा पुरस्कार नहीं है. इसकी राशि महत्वपूर्ण तो है, लेकिन उतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी कि इस पुरस्कार के आयोजकों द्वारा किसी भी भारतीय साहित्यकार की संपूर्ण रचनाधर्मिता को पूर्ण सम्मान और गौरव देना है. यही एकमात्र ऐसा पुरस्कार है, जो अंग्रेजी को छोड़कर किसी भी भारतीय भाषा के सर्वश्रेष्ठ कृतिकार और कृति को पूर्ण सम्मान के साथ पुरस्कृत करता है. सही अर्थों में यह भारतीय साहित्य के लिए सम्मान का प्रतीक है. किसी भी भाषा से उसके सर्वश्रेष्ठ को चुनना अपने आप में बहुत ही कठिन लेकिन महत्वपूर्ण कार्य है. जनतांत्रिक ढंग से कई महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं से गुजरकर पुरस्कार विजेता का अंतिम निर्णय होता है. संपूर्ण भारतीय साहित्य के लिए तुलनात्मक दृष्टि तो अपनी अहम भूमिका निबाहती ही है, रचनाकार की संपूर्ण साहित्य सेवा का भी समुचित आकलन किया जाता है. इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है कि प्रक्रिया थोड़ी लंबी भले ही हो जाये लेकिन त्रुटिहीन रहे. कभी-कभी निर्णय को लेकर विवाद भी खड़े हो जाते हैं, लेकिन उन विवादों का किसी भी सर्वसम्मत निर्णय में विशेष महत्व नहीं होता. हमारी व्यक्तिगत मान्यता यह है कि निर्णयों को लेकर खड़े किये गये विवादों पर विशेष ध्यान नहीं देना चाहिए, क्योंकि साहित्य जगत में किसी बात को लेकर विवादहीनता की कल्पना भी थोड़ी मुश्किल है. जहां 'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना' की स्थिति हो वहां किसी भी चीज को निर्विवाद बनाया ही नहीं जा सकता.

इन विशेषांकों की योजना बनाते समय हमने विशेष रूप से तीन पक्षों पर ध्यान रखा है—प्रक्रिया पक्ष, रचना पक्ष और प्रतिक्रिया पक्ष. इनमें भी निश्चित रूप से रचना पक्ष सबसे प्रमुख और बड़ा है. अभी तक कुल 21 रचनाकारों को उनकी प्रमुख कृतियों और साहित्य सेवाओं पर पुरस्कार दिया गया है. हमारी कोशिश रही है कि इन सभी रचनाकारों का रचनाओं के माध्यम से इन विशेषांकों में प्रतिनिधित्व रहे. यह सही है कि अधिकांश को उनकी काव्य कृतियों पर पुरस्कार मिला है, लेकिन उनमें से भी अधिकांश ने गद्य साहित्य और विशेष रूप से कथा साहित्य की भी सेवा की है. चयन के समय कथा साहित्य पर विशेष रूप से हमने ध्यान रखा है. इन अंकों में प्रक्रिया पक्ष और प्रतिक्रिया पक्ष के संकेत भर दिये गये हैं. जिससे कि शोधकर्ताओं को एक दिशा मिल सके. क्योंकि हमें पूरा विश्वास है कि जल्दी ही भारतीय विश्वविद्यालयों में ज्ञानपीठ पुरस्कार पर बड़ी मात्रा में शोधकार्य किये जायेंगे और किये भी जाने चाहिए, क्योंकि यह पुरस्कार समूचे भारतीय साहित्य को एक साथ समेट कर चलता है.

इन विशेषांकों का जितना महत्व शोधकर्ताओं के लिए हो सकता है, उतना ही भारतीय साहित्य के सामान्य पाठकों और साहित्य प्रेमियों के लिए भी है. भारत के नोबेल पुरस्कार जैसे सम्मान को प्राप्त रचनाकारों का एक ही जगह पर प्रतिनिधित्व अपने आप में काफी बड़ा और महत्वपूर्ण कार्य है.

'सारिका' द्वारा इन विशेषांकों का आयोजन कितना सफल है, इसका सही निर्णय साहित्य मर्मज्ञ, शोधकर्ता और 'सारिका' के विचारशील पाठक ही कर सकेंगे. बहरहाल, हम आप सभी को 'सारिका' के रजत जयंती वर्ष का यह उपहार और नववर्ष की हार्दिक मंगलकामनाएं दे रहे हैं.

एक दृष्टि-अगोचर नदी जैसा व्यक्तित्व

■ कुबेरनाथ राय

प्रसिद्ध उद्योगपति श्री रामकृष्ण डालमिया के परिवार में जन्मीं, गांधीजी के वर्धा आश्रम में श्री जमनालाल बजाज की देखरेख में पली—बढ़ीं, श्री मदन मोहन मालवीय द्वारा चुने सुयोग्य-वर साहू श्री शांतिप्रसाद जैन से ब्याही गयीं—पत्नी के रूप में परम समर्पिता, मां के रूप में बड़ी प्रवीण-ममतालु, एक विलक्षण व्यक्तित्व, जिसमें अपूर्व आत्म-संयम हो, जिसे अध्ययन-मंथन का चाव हो, जो सुरुचि-संपन्न होते भी सरल जीवन और उच्च विचारों में आस्था रखे, देश के प्रति अनुराग ने जिसे देश की कला-संस्कृति और साहित्य-संपदा के प्रति अनुराग सिखाया हो—इन सबको जिस एक व्यक्ति ने चरितार्थ किया, वह थीं भारतीय ज्ञानपीठ और ज्ञानपीठ साहित्य पुरस्कार की प्रवर्तिका श्रीमती रमा जैन—

भारत के बहुत लोगों को यह बात खलती रही कि केवल एक ही भारतीय रवींद्रनाथ को अब तक साहित्य में 'नोबेल पुरस्कार' मिल पाया, जबकि इसके योग्य कम-से-कम छह व्यक्ति और निकल ही आयेंगे. विविध भारतीय भाषाओं में जिनकी रचनाएं पश्चिम के नोबेल पुरस्कार प्राप्त साहित्यकारों से कदापि हीन नहीं कही जा सकतीं. मेरा तात्पर्य इकबाल, सुब्रह्मण्यम भारती, शरतचंद्र, प्रेमचंद, 'सावित्री' के कवि अरविंद और 'कामायनी' के कवि प्रसाद जैसी प्रतिभाओं से है—विशेषत: अंतिम दो कवि अपने इन दो महाकाव्यों में भारतीयता का सर्वोच्च स्वाद प्रस्तुत करते हैं. ठीक उसी कोटि का स्वाद, जिसे 'गीतांजलि' गीति-काव्य की विधा में देती है, परंतु भारतीय साहित्यकार की कौन कहे, समूचे एशिया की उपेक्षा हुई. कम-से-कम दो नाम अत्यंत प्रभावशाली रहे—खलील जिब्रान (अरबी) और नागूची (जापानी). ऐसा अनुभव किया जाता रहा कि भारतीय भाषाओं का साहित्यकार-मानक प्रस्तुत करने के लिए ऐसे ही पुरस्कार की बड़ी आवश्यकता है. इस बारे में जिन व्यक्तियों ने सक्रिय रूप से चिंता की, उनमें दो के नाम प्रमुख हैं. एक थे राष्ट्रपति राजेंद्रप्रसाद जो इस बात की अनेक श्रीसंपन्न लोंगो से चर्चा करते थे. उनकी राय थी कि एक ऐसा पुरस्कार भारत में स्थापित हो और उसे 'गांधी पुरस्कार' या 'भारती पुरस्कार' जैसा एक नाम देकर प्रचलित किया जाये और साहित्यिक महिमा और धनराशि दोनों में 'नोबेल पुरस्कार' के समकक्ष हो. दूसरा व्यक्ति जो इसके विषय में चिंतित था और चिंतित ही नहीं, बल्कि इसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए व्यग्र हो उठा, वे थीं श्रीमती रमा जैन. उनकी ही प्रेरणा से प्रति वर्ष भारतीय ज्ञानपीठ नामक संस्था एक वरेण्य साहित्यकार को एक विशिष्ट कालखंड के सर्वोच्च लेखक के रूप में डेढ़ लाख रुपये का पुरस्कार देकर सम्मानित करती है.

इस पुरस्कार की प्रेरणा वही हैं, इसके विधान की कल्पना में उनका ही हाथ है और उपर्युक्त धनराशि का स्रोत भी उनकी पारिवारिक संपत्ति के ट्रस्टों से आता है, तो भी उन्होंने नोबेल महाशय के विपरीत इस पुरस्कार को ज्ञानपीठ संस्था के नाम से ही नामांकित किया, किसी व्यक्ति के नाम से नहीं. यह तथ्य एक उत्तम उदाहरण है भारतीय प्रज्ञा का, जो आत्मवादी होती है, पर व्यक्तिवादी नहीं होती. इसका आदर्श है कि अपने नाम पर अवगुंठन डालकर सारा कर्म एक निष्काम सतोगुणी भाव से करते चलो. यही भारतीय मना की पहचान है. और रमाजी तो भारतीय ही नहीं 'भारतीय वधू' भी थीं, जो अपने व्यक्तित्व को दृष्टि-अगोचर रखकर सारा जीवन कर्मयोग में रत रहती हैं. इसी से जब मैं उनके बारे में सोचता हूं तो लगता है कि कोई दृष्टि-अगोचर नदी है, दृष्टि के उस पार, अवरोध के उस पार. और, वही नदी आसपास के खेतों को सींचती हुई मातृका भाव से बह रही है, पुण्य-सलिला नाम सार्थक कर रही है. हम देखते हैं, हरीतिमा के विस्तार को, परंतु उसी विस्तार के मध्य छिपी हुई जलधारा बह रही है, प्राण और रूप को बांटती हुई, यह तथ्य अनजाना रह जाता है. श्रीमती रमा जैन का जीवन कुछ ऐसा ही था कि उनके महत् कार्यों के पीछे उनकी प्रेरणा सक्रिय रही, परंतु उन्होंने 'यथासंभव' अपने नाम और व्यक्तित्व को अगली पांत में लाकर प्रसारित करने की चेष्टा नहीं की. अवश्य ही यह बात 'यथासंभव' ही हो सकती थी, क्योंकि जब एक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को विस्तार देता हुआ अपने को संस्था बना डालता है तो इसके लिए सदैव अवगुंठन में रहना संभव नहीं. इस बात को दूसरे ढंग से भी समझा जा सकता है.

इस संसार में कुछ ऐसे भी व्यक्ति जन्म लेते हैं, जिनका 'मैं' एक 'समूहवाचक संज्ञा' बन जाता है. वे ऐसा जीवन जीते हैं, गोया वे व्यक्ति न होकर कोई संस्था हों. उनका व्यक्तित्व उस महा वट की तरह होता है, जो धरती पर अपनी शाखाओं से फटी बरोहों को आरोपित करता चलता है, प्रत्येक बरोह जमीन में जाकर जड़ पकड़ लेती है और ऊपर शाखाएं प्रस्फुटित करती हुई उपवृक्ष बन जाती है और इस प्रकार वह महावट का वृक्ष न होकर महीरुह-कुल का रूप धारण कर लेता है और कालांतर में मूल वृक्ष-स्तंभ के काल-कवलित हो जाने पर भी वह अपने सामूहिक व्यक्तित्व को अस्तित्वमान रखता है. लोग भूल जाते हैं कि मूल वृक्ष कहां है, परंतु उसके द्वारा आरोपित उसकी सामूहिक आकृति सबको दृष्टि-प्रत्यक्ष होती रहती है. श्रीमती रमा जैन का व्यक्तित्व भी कुछ इसी प्रकार का था. श्रीमती साहूजी के रूप में अथवा अपने प्रिय बच्चों—अशोक-आलोक-मनोज की मां के रूप में जो उनकी व्यक्तिगत सत्ता थी, उसका पंचभौतिक रूप अब नहीं रहा, परंतु उन्होंने इस पंचभौतिक व्यक्तित्व के भीतर उपस्थित 'मन-बुद्धि अहंकार' (सांख्यों की भाषा में) से उद्भूत अपने जिन 'उपव्यक्तित्वों' को उद्घाटित किया है, अपनी संतानों के रूप में, अपने द्वारा स्थापित संस्थाओं के रूप में, अपने

पुरस्कार योजना की घोषणा करती हुई श्रीमती रमाजी

द्वारा संचालित और निर्देशित प्रतिष्ठानों के रूप में, अपने द्वारा स्थापित साहित्य और सांस्कृतिक परंपराओं के रूप में, सारे 'उपव्यक्तित्व' उस मूल व्यक्तित्व के अस्तित्व लुप्त होने पर भी उनको बहुत काल तक अभिव्यक्त करते रहेंगे, और एक दिन ऐसा भी होगा, जब लोग भूल सकते हैं कि 'रमाजी कौन थीं' तब भी ये सारे उपव्यक्तित्व। उनकी सामूहिक सत्ता को अक्षुण्ण रखेंगे. उनका 'मैं' अपनी समूहवाचक सत्ता को जीवित रखेगा. यह 'खंड' या 'लघु' सत्ता को विराट और असीम का अंग बना देने जैसा है. अवश्य ही आध्यात्मिक अर्थ में नहीं, पर इस मुहावरे के सामाजिक अर्थ को जिस सीमा तक सार्थक किया जा सकता है, श्रीमती रमा जैन ने अपने जीवन में करने की चेष्टा की. वस्तुत: उन्हें जन्म देने वाले थे सेठ रामकृष्ण डालमिया, परंतु उनकी मन, बुद्धि और आंतरिक व्यक्तित्व को जन्म देनेवाले, उन्हें 'द्विजत्व' देने वाले थे स्वनाम-धन्य समाजसेवी और सहृदय शिरोमणि श्री जमनालाल बजाज. श्री बजाज ऐसे व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने अपना सर्वस्वदान कर दिया था स्वतंत्रता आंदोलन और गांधीवादी आंदोलन के लिए. वे अपने समय के 'भामाशाह' थे. ऐसे पुरुष के तत्त्वावधान में श्रीमती रमा जैन के मानसिक संस्कारों का अंकुरण और पल्लवन हुआ था. अत: यह स्वाभाविक ही है कि उनका जीवन अपने गुरु के व्यक्तित्व की छाया अभिव्यक्त करता चले.

भारतीय ज्ञानपीठ के कार्यकलाप से परिचित होने के पूर्व ही मैं श्रीमती रमा जैन का नाम सुन चुका था—अवश्य सेठ रामकृष्ण डालमिया की विदुषी पुत्री के रूप में. मेरे बाबा (यानी पितामह) पंडित शुकदेव शर्मा पेशे से पत्रकार थे. उनके मन में धनिकों और पत्र-मालिकों के विरुद्ध एक घोर पूर्वग्रह रहता था, परंतु इस वर्ग के जिन तीन-चार के बारे में वे आदर की भाषा बोलते थे, उनमें एक थीं श्रीमती रमा जैन, जो लक्ष्मी की लाडली होते हुए भी उनके आदर की पात्र थीं.

श्रीमती जैन के साथ उनका परिचय अल्पकालीन ही था. महज एक वर्ष का संपर्क. संभवत: 1952 के आसपास घर की आर्थिक अवस्था खराब होने के कारण उन्हें नौकरी वृद्धावस्था तक करनी पड़ी थी.

वे 1952 के आसपास करीब साल भर 'नवभारत टाइम्स' के संपादकीय विभाग में रहे और इसी काल में श्रीमती रमा जैन से वे परिचित हुए थे और अकाल में ही उनकी सुरुचि और हार्दिक प्रेम तथा इससे भी बढ़कर 'मनुष्यता' से (बाबा की पीढ़ी 'मनुष्यता' को ही सर्वोच्च गुण मानती थी) प्रभावित हो गये थे.

उनके द्वारा की गयी अनेक चर्चाओं में एक यह है—एक दफा श्री राजबहादुर सिंह बंबई में थे और संयोगवश अग्रलेख के लिए मैटर नहीं था और तब उन्होंने ही अग्रलेख तैयार किया. उनका सारा जीवन दैनिक और साप्ताहिक पत्रकारिता में बीता था और अग्रलेख लिखने का उन्हें अच्छा अभ्यास था. उन्होंने उक्त अग्रलेख को तैयार किया था किसी प्रसिद्ध विरोधी पक्ष के नेता (संभवत: डा. अंबेडकर) के वक्तव्य पर. उस अग्रलेख में बाबा ने कुछ कड़ी भाषा रख दी थी और तत्कालीन प्रधानमंत्री पर वह अग्रलेख सीधे-सीधे प्रहार बन गया था, परंतु प्रेस में देने के पूर्व प्रबंध संपादक को एक बार इसे दिखा देना जरूरी था. हर पत्र की अपनी नीति होती है और वह नीति निर्देशित होती है प्रधान संपादक और कहीं पर प्रबंध संपादक के द्वारा, लेकिन प्रधान संपादक और प्रबंध संपादक दोनों की अनुपस्थिति में इसे किसे दिखाया जाये? यह समस्या थी. संयोग से रमाजी ऑफिस में मौजूद थीं, किसी कार्यवश बाबा ने इस बात की चर्चा की, तो उन्होंने पढ़कर अंतिम पैरे को दुबारा लिखवा दिया. इस तरह उक्त अग्रलेख की टिप्पणी का स्वर कोमल हो गया. यद्यपि मूल मैटर ज्यों-का-त्यों रहा. कुछ लोगों ने बाद में कहा कि यह अग्रलेख न जाता तो अच्छा था. परंतु रमाजी की यह धारणा थी कि जब किसी संपादक को लिखने का अधिकार दे दिया गया है तो उसके दृष्टिकोण और उसकी स्थापना में परिवर्तन एक सीमा तक ही उचित है. भाषागत भंगिमा से आगे मूल मैटर में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्रबंध विभाग को नहीं, यदि प्रबंधकों और संपादकों में किसी बात को लेकर गतिरोध पैदा हो तो अंतिम अवस्था में संपादक की ही बात मानी जानी चाहिए, ऐसा उनका अभिमत था.

इस प्रकार उनके बारे में मैं कुछ बातें पहले ही सुन चुका था, परंतु तब उनके, बृहत्तर व्यक्तित्व के बारे में स्पष्ट धारणा नहीं थी. यह स्पष्ट धारणा बाद में बनी, जब भारतीय ज्ञानपीठ से मैं परिचित हुआ □

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार: संकल्प से संसिद्धि तक

◻ लक्ष्मीचंद्र जैन

भारतीय साहित्य के किसी सर्जक को प्रतिवर्ष ज्ञानपीठ पुरस्कार दिया जाता है, जो देश का सबसे बड़ा साहित्यिक पुरस्कार है. कब, क्यों और कैसे शुरू हुआ यह पुरस्कार. किस तरह चुना जाता है कोई रचनाकार इस पुरस्कार के लिए. कैसी-कैसी कठिनाइयों से गुजरना पड़ता है इसकी चयन समिति को, आदि-आदि बातों का खुलासा करता पुरस्कार के प्रारंभिक दौर से वर्तमान तक इससे संबद्ध और प्रवर परिषद के सदस्य का अंतरंग आलेख—

भारतीय ज्ञानपीठ ने सांस्कृतिक-साहित्यिक योजनाओं की एक लंबी यात्रा तय की है. ज्ञानपीठ के संकल्प-पत्र के अनुसार संस्था का उद्देश्य इन शब्दों में निश्चित किया गया था : "ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसंधान तथा लोक-हितकारी मौलिक साहित्य का निर्माण!" अभिप्राय था : लुप्त ग्रंथों का उद्धार, अलभ्य और आवश्यक ग्रंथों का सुलभीकरण, प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, कन्नड़, तमिल आदि के वाङ्मय का मूल और यथासंभव अनुवाद रूप में प्रकाशन, लुप्त और नष्ट समझे जानेवाले कतिपय ग्रंथों का अपने मौलिक रूप में पुनरुद्धार, हिंदी में लोकोपकारी मौलिक साहित्य की रचना का प्रोत्साहन और प्रकाशन.

वास्तव में यात्रा की यह पहली मंजिल थी. संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन कन्नड़, तमिल आदि की लगभग डेढ़ सौ कृतियां प्रकाशित हो चुकी हैं. दूसरी मंजिल के संदर्भ में हिंदी में मौलिक और अनूदित साहित्य की लगभग 450 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—इनमें अन्य भारतीय भाषाओं से अनूदित लगभग 55 कृतियां हैं. 25 पुस्तकों के द्वारा उर्दू साहित्य, विशेषकर काव्य-साहित्य, देवनागरी लिपि में प्रस्तुत किया गया है.

भारतीय ज्ञानपीठ की उपलब्धियों का तीसरा चरण ज्ञानपीठ का साहित्य पुरस्कार है, जिसकी कल्पना की पृष्ठभूमि ज्ञानपीठ की उपलब्धियों के पहले दो दशकों में प्रकाशित साहित्य ने प्रस्तुत की. कड़ी से कड़ी जुड़ती चली गयी. प्राचीन भारतीय साहित्य के प्रकाशन ने अधुनातन भारतीय साहित्य के विषय में सोचने की प्रेरणा दी. 'ज्ञानोदय' और 'ज्ञानपीठ पत्रिका' के माध्यम से भारतीय साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियों को रेखांकित करने और किसी सीमा तक उन्हें दिशा देने के दायित्व ने समसामयिक साहित्य के प्रवाह से जोड़ा. राष्ट्रभारती ग्रंथमाला के विकास ने भारतीय साहित्य की प्राणवत्ता, विविधता और भावनात्मक एकता के दर्शन कराये. देश की माटी की गंध प्राणों में बसी और देशवासियों की छवि के वैविध्य ने, संस्कृति की सामूहिक विरासत की पहचान ने पुलकित किया. इन तमाम उपलब्धियों की पृष्ठभूमि में जहां स्वर्गीय श्री साहू शांतिप्रसाद जैन की प्रेरणा समर्थन देती रही, वहां इन कार्यक्रमों के निर्वाह में ज्ञानपीठ की अध्यक्षा स्वर्गीय श्रीमती रमा जैन पग-पग पर सक्रिय रहीं, शक्ति की स्रोत बनी रहीं.

स्वर्गीय श्रीमती रमा जैन के मन में बराबर आकांक्षा बसी हुई थी कि साहित्यकारों के सम्मानार्थ कोई योजना बनायी जाये. समय-समय पर कई विकल्प सामने आते थे—कोई निधि, जिससे साहित्यकारों को साधना के लिए साधन प्राप्त हो सकें, कोई ऐसी योजना, जिसका उद्देश्य पुस्तक प्रकाशित करने के साथ-साथ साहित्यिक प्रतिभायुक्त तरुणों को सृजन के लिए आर्थिक प्रोत्साहन देना हो.

ज्ञानपीठ के संस्थापक श्री साहू शांतिप्रसाद जैन भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ॰ राजेंद्रप्रसाद के साथ ज्ञानपीठ पुरस्कार के संदर्भ में विचार-विमर्श करते हुए

सौभाग्य से एक ऐसा शुभ अवसर आया, जिस दिन श्रीमती रमा जैन को, साहू परिवार और उसके निकटतम स्नेहियों को गंभीरता से यह सोचना आवश्यक हो गया कि ऐसा क्या कार्य किया जाये जो साहूजी को अत्यंत प्रिय लगे और हम सबको कृतार्थता का बोध हो. यह अवसर था, साहूजी के जीवन के 51 वें वर्ष में प्रवेश का दिन—22 मई, 1961. उस दिन के लिए रमाजी ने साहूजी के जीवन के विभिन्न अवसरों के और उनकी विकास-यात्रा, उत्कर्ष-उपलब्धि को चित्रित करने वाले चुने हुए छायाचित्रों का एलबम तैयार किया, जिसके प्रत्येक चित्र को आकर्षक अल्पना डिजाइनों से सजाया गया था और प्रत्येक पर उत्फुल्ल शीर्षक जड़ा गया था. परिवार के और निकटतम परिवेश के आत्मीय व्यक्तियों ने साहूजी के विषय में संस्मरण लिखे थे, जिनकी एक अभिनंदन मंजूषा बनायी गयी थी.

परिवार के बालक-बालिकाओं ने नृत्य-गान, प्रहसन आदि का कार्यक्रम तैयार किया था. यह सब इस प्रकार आयोजित था कि साहूजी को खबर न लगने पाये और अप्रत्याशित सुखद आश्चर्य की अनुभूति उन्हें हो. यही अवसर था, जब साहित्य की श्रीवृद्धि के लिए एक बड़ी योजना घोषित कर देना रमाजी को प्रियकर लगा. साहूजी के बड़े पुत्र श्री अशोककुमार जैन ने तब बहुत संकोच के साथ कहा : "अम्माजी, आप मन में संकल्प तो कर लें, किंतु ऐसी किसी बड़ी योजना की घोषणा बिना बाबूजी की स्वीकृति के संभव कैसे होगी? फिर, भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासधारी मंडल से भी विचार-विनिमय करना उचित होगा." बात समझ में आ गयी, किंतु यह भी ठीक है कि संकल्प का बीज रमाजी के मानस में जम गया. योजना की कोई एक रूपरेखा निश्चित नहीं थी. विकल्प अनेक थे, जिन पर हम लोग आगे के दिनों में चर्चा करते और अनिश्चय की स्थिति में बात को छोड़ देते.

एक दिन भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासधारी मंडल की बैठक में मैं यह विवरण दे रहा था कि राष्ट्रभारती ग्रंथमाला के अंतर्गत साहित्य के अग्रगण्य लेखकों में से अमुक-अमुक ने अपनी सर्जनात्मक रचनाओं के संकलन दे दिये हैं, अमुक की प्रतिश्रुति है और श्रेष्ठतर तथा श्रेष्ठतम के आधार पर प्रकाशन-कार्यक्रम को नियोजित करना उचित होगा. . . कि अचानक रमाजी ने एक प्रश्न कर दिया, जैसे एक साथ अनेक दीपक जगमगा उठे हों: "भारतीय साहित्य में जो कुछ लिखा जा रहा है, उसमें से उत्कृष्टतर को और उसमें से उत्कृष्टतम को छांटने का आधार क्या रहता है?" मैंने कहा, "लेखक की ख्याति, उसकी रचनाओं पर समीक्षकों का मंतव्य."

"क्या सारे आधुनिकतम साहित्य में से सर्वश्रेष्ठ कृति का चयन किया जा सकता है?" यह उनका अगला प्रश्न था.

मैंने कहा, "इस दिशा में इतना तो अवश्य हो रहा है कि साहित्य अकादमी प्रत्येक भाषा की श्रेष्ठ कृति को अपने नियमों के अनुसार प्रति वर्ष चुनती है और लेखक को पुरस्कृत करती है. श्रेष्ठतम के चुनने का आधार तो अभी सोचा ही नहीं गया." हमारी बात जहां समाप्त हुई, रमाजी के मन में वह वहीं से प्रारंभ हो गयी. बैठक समाप्त हो गयी.

एक-दो दिन बाद रमाजी ने मुझसे कहा, "क्या हम कोई तरीका निकाल सकते हैं कि सर्वोत्तम लेखक को चुनें और उसे पुरस्कृत करें?" शायद, तत्काल तो मैंने यही कहा कि ऐसे लेखकों की सूची बना ली जाये, जिनका कृतित्व अपनी-अपनी भाषा में आदृत है और उनमें जो सर्वश्रेष्ठ माने जा सकें, उन्हें किसी एक क्रम से पुरस्कृत किया जाये.

हम लोग इस प्रकार के सूत्रों को बुनते रहे, जोड़ते-छोड़ते रहे और तब समस्या का रूप यह उभरा कि किस के कृतित्व को प्राथमिकता के साथ वरण करें. यह प्रक्रिया यदि सोच ली जाती है तो इसे एक स्थायी पुरस्कार का रूप दिया जा सकता है. मेरे सामने अब तक एक बात स्पष्ट हो चुकी थी कि सारी योजना का आधार यह होगा कि साहित्य अकादमी जितना काम करती है, अर्थात यह कि प्रत्येक भाषा की श्रेष्ठ कृति चुन ली जाये, उससे आगे हमें चलना है कि श्रेष्ठ कृतियों में से श्रेष्ठ को छोड़कर श्रेष्ठतर को लें और तब श्रेष्ठतरों में श्रेष्ठतम को चुन लें.

कैसे मिलता है किसी पुस्तक को ज्ञानपीठ पुरस्कार

पुरस्कार के लिए पुस्तक चयन-प्रक्रिया को चार चरणों में बांटा गया है, भाषायी प्रस्तावक, भाषा परामर्श समिति, भाषा समूह समिति और अंतिम व निर्णायक प्रवर परिषद.

प्रत्येक पुरस्कार वर्ष के प्रारंभ में भारतीय ज्ञानपीठ का पुरस्कार विभाग अपनी ओर से एक प्रस्ताव-पत्र सभी बुद्धिजीवियों को भेजता है जिसमें यह अनुरोध होता है कि भारतीय ज्ञानपीठ अपने आगामी पुरस्कार के लिए इन-इन भाषाओं पर विचार करेगा. पुरस्कार इस अवधि के बीच प्रकाशित साहित्य पर दिया जायेगा, इस अवधि में आपकी भाषा में प्रकाशित साहित्य में से आप जिसे सर्वश्रेष्ठ समझते हों कृपया हमें सूचित करें. इस तरह के प्रायः सात-आठ हजार प्रस्ताव-पत्र भेजे जाते हैं.

प्रस्ताव पत्र में जो जानकारी जुटायी जाती है, वही पर्याप्त नहीं होती. कई बार तो यहां तक होता है कि प्रस्ताव-पत्रों पर पर्याप्त प्रत्युत्तर नहीं मिल पाते. इन तमाम आकस्मिक उत्तरदायित्वों से दो-चार होने के लिए ज्ञानपीठ ने पहले से ही एक और व्यवस्था की हुई है. पुरस्कार विभाग स्वयं भी प्रत्येक भाषा के लेखकों की रचनाओं, उन रचनाओं पर की गई आलोचनात्मक टिप्पणियों का ब्यौरा रखता है और प्रस्ताव-पत्रों के साथ-साथ विभाग द्वारा संस्तुत की गयी पुस्तकों की सूची भी भाषा-परामर्श समितियों को भेज देता है.

भाषा परामर्श समिति का चुनाव प्रवर परिषद करती है. प्रत्येक भाषा की पृथक तीन सदस्यीय परामर्श समिति गठित की जाती है. समिति के सदस्य अपनी-अपनी भाषा के विज्ञ लेखकों-समीक्षकों में से ही चुने जाते हैं. इस समिति का कार्यकाल तीन वर्ष होता है. ये सदस्य अपने में से ही किसी को अपना संयोजक नियुक्त करते हैं. किसी भी भाषा को पुरस्कार घोषित होने के साथ ही उस भाषा की परामर्श समिति स्वतः निरस्त हो जाती है फिर अगले तीन वर्ष तक उस भाषा की परामर्श समिति का गठन नहीं किया जाता क्योंकि इस दौरान वह भाषा पुरस्कार के लिए प्रतियोगिता में शामिल नहीं हो सकती.

भाषा परामर्श समितियां इसके लिए स्वतंत्र हैं कि वे प्रस्ताव-पत्रों पर विचार करें या न करें. वे सभी प्रस्तावित पुस्तकों को निरस्त कर निजी स्रोतों से प्राप्त जानकारी की बिना पर किसी अन्य पुस्तक पर भी विचार कर सकते हैं और यदि वह पुस्तक सर्वसम्मति से उनकी भाषा की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक मान ली जाती है तो अपनी बैठक की कार्यवाही, उसके निर्णय की सूचना, पुस्तक के विषय में अपनी टिप्पणी के साथ प्रवर परिषद को भेज सकते हैं.

भाषा परामर्श समितियों से पुस्तकों की सूची मिल जाने पर पुरस्कार विभाग वे पुस्तकें भाषा-समूह समिति के सदस्यों के पास तुलनात्मक अध्ययन के लिए भेज देता है. इस समिति में ऐसे सदस्य होते हैं जो कई भाषाओं पर अधिकार रखते हों. तुलनात्मक अध्ययन के लिए पुस्तक भेजते समय यह ध्यान रखा जाता है कि किसी भी सदस्य के पास उनकी मातृभाषा की पुस्तक न भेजी जाये.

भाषा-समूह समिति के सदस्य अपनी टिप्पणी सहित ये पुस्तकें पुरस्कार विभाग को भेजते हैं. तदनंतर पुरस्कार विभाग इन पुस्तकों के अंग्रेजी और हिंदी अनुवाद तैयार करवाता है और इस अनुवाद की एक-एक प्रति प्रवर परिषद के सदस्यों को भेजता है.

प्रवर परिषद का दायित्व है अंतिम रूप से पुस्तक का चयन करना, भाषा परामर्श समिति, भाषा समूह समिति का गठन करना. पुरस्कार की तिथि, वर्ष, अवधि आदि का निर्णय लेना. इस परिषद में ग्यारह सदस्य होते हैं. जिनमें से नौ अपने-अपने

इस विचार को रमाजी ने विस्तार दिया. कई-कई बार विचार-विनिमय के उपरांत स्पष्ट होने लगा कि योजना उतनी असंभव नहीं, जितनी पहली बार सोचने या सुनने से किसी को लगती है. अद्भुत साहस और आत्मविश्वास की धनी थीं रमाजी. उन्होंने कहा—"अगर असंभव नहीं है तो हम लोग रास्ता खोज लेंगे. बताइए, कह दूं ट्रस्टियों की बैठक में कि पुरस्कार योजना की संभावना को आगे बढ़ाने की अनुमति, न्यासधारी मंडल 16 सितंबर, 1961 की बैठक में दे."

न्यासधारी मंडल ने योजना को आगे बढ़ाने की सहमति जिस रूप में दी, उससे स्पष्ट है कि वह हिम्मत तो तोड़ना नहीं चाहता था, किंतु कठिनाइयों के प्रति सतर्क था और निर्णय के लिए कुछ अधिक आधार चाहता था. प्रस्ताव के शब्द थे :

"भारतीय भाषाओं की सर्वोत्तम साहित्यिक कृति के लिए यदि प्रति वर्ष एक लाख रुपये के पुरस्कार की योजना चालू की जाये तो इसके विभिन्न रूप क्या-क्या हो सकते हैं, इस संबंध में विस्तार के साथ चर्चा की गयी. सभी भारतीय भाषाओं में से चुनी गयी एक-एक सर्वोत्तम कृति के संग्रह में किस भाषा की कौन-सी कृति सर्वोत्तम है, इसके निर्णय के लिए कौन-सा उपाय सर्वोत्तम और निर्दोष है, इस संबंध में कोई निश्चित मत नहीं बन पाया, क्योंकि कठिनाइयां अनेक हैं. इनका यदि कोई हल निकाला जा सके तो योजना विचारणीय है."

18 नवंबर, 1961 को मैं कलकत्ता से ज्ञानपीठ के वाराणसी कार्यालय में गया हुआ था कि रमाजी का टेलीप्रिंटर संदेश मिला कि मैं तत्काल दिल्ली पहुंचूं. 24 तारीख को राष्ट्रपति राजेंद्र बाबू से मिलना है. योजना की एक प्रारंभिक रूपरेखा लेता आऊं. याद है मुझे, 18 नवंबर, 1961 की रात्रि की फ्रंटियर मेल की यात्रा, जब मैंने योजना की एक मोटी-मोटी रूपरेखा बनायी थी और लेट जाने पर भी सो नहीं सका था. वह ड्राफ्ट मेरे पास सुरक्षित है. आश्चर्य होता है यह सोचकर कि जिन समस्याओं को बार-बार विचार-विनिमय के उपरांत अधूरे हल के साथ छोड़ दिया गया था, उनका हल योजना के ढांचे में उभरता चला गया. निश्चय ही अभी बहुत काम योजना पर होना था. दिल्ली पहुंचने के बाद 20 नवंबर को जब योजना का प्रारूप सुधार-संवार कर मैंने टाइप करवाकर रमाजी को दिया तो उन्हें लगा कि 24 नवंबर को राष्ट्रपति से विचार-विनिमय करने और उनका आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए सामग्री पर्याप्त है. फिर भी, एक काम उन्होंने तत्काल किया. 22 नवंबर को कुछ विशिष्ट आत्मीय व्यक्तियों की उन्होंने एक अनौपचारिक बैठक, 6 सरदार पटेल मार्ग पर बुलायी, ताकि योजना पर प्रारंभिक चर्चा की जा सके. इस प्रकार पहली बार, जिनके सामने योजना का प्रारूप विचारार्थ रखा गया, वे थे : काका साहब कालेलकर, दिनकरजी, जगदीशचंद्र माथुर, डा. प्रभाकर माचवे और बच्चनजी. श्री महावीर अधिकारी उस दिन संयोग से दिल्ली में थे. वे भी सम्मिलित हुए.

इस अंतरंग बैठक में योजना के जिस स्थूल रूप पर चर्चा हुई, उसके अभिप्रायों पर, कार्यविधि पर मैंने प्रकाश डाला. रमाजी ने आश्वासन दिया कि जो भी शंकाएं खड़ी होंगी, उनके निराकरण का उपाय सोचा जायेगा और जब नियम-उपनियम बनेंगे या विवरण तैयार होगा तो यह ध्यान रखा जायेगा कि

क्षेत्र के गण्यमान्य व्यक्ति होते हैं और दो ज्ञानपीठ की ओर से प्रतिनिधित्व करते हैं. ज्ञानपीठ की ओर से ज्ञानपीठ के अध्यक्ष और सर्वोच्च अधिकारी प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किये जाते हैं. प्रवर परिषद का चयन भारतीय ज्ञानपीठ न्यास का न्यासधारी मंडल करता है. प्रवर परिषद का कार्यकाल भी तीन वर्ष होता है. इनके कार्यकाल को बढ़ाने या किन्हीं सदस्यों को पुनः मनोनीत करने का अधिकार ज्ञानपीठ न्यासधारी मंडल का है.

प्रवर परिषद के सदस्य अपनों में से किसी एक सदस्य को परिषद का अध्यक्ष मनोनीत करते हैं. अध्यक्ष को किसी भी विवाद में एक अतिरिक्त मत रखने का हक रहता है यानी ग्यारह सदस्यों के ग्यारह मत और एक अतिरिक्त मत अध्यक्ष के नाते अध्यक्ष बने सदस्य का. प्रवर परिषद की किसी भी बैठक में यदि कम से कम पांच (बाहरी) और दोनों ज्ञानपीठ प्रतिनिधि उपस्थित न हों तो उस बैठक को अमान्य कर दिया जाता है.

पुस्तक चयन के संदर्भ में प्रवर परिषद की बैठक दो सत्रों में होती है. पहले सत्र में भाषा परामर्श समिति, भाषा समूह समिति की रिपोर्ट्स पढ़ी जाती हैं, तमाम पुस्तकों पर मत-सम्मत एकत्र किये जाते हैं और दूसरे व अंतिम सत्र में निर्णय लिया जाता है.

प्रवर परिषद भाषा परामर्श समिति द्वारा संस्तुत पुस्तकों में से ही सर्वश्रेष्ठ पुस्तक का चयन करती रही है पर नियमानुसार वह इसके लिए बाध्य नहीं है. यदि प्रवर परिषद की जानकारी में कोई पुस्तक-लेखक प्रस्तावित पुस्तकों-लेखकों से श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण है तो वह परामर्श समिति के प्रस्तावों को निरस्त कर अन्य किसी रचना को भी सर्वसम्मति से सर्वश्रेष्ठ घोषित कर सकती है.

अठारहवें पुरस्कार से ज्ञानपीठ ने अपने नियमों में कुछ परिवर्तन किया है. पहले एक विशेष कालावधि में प्रकाशित पुस्तकों में से सर्वश्रेष्ठ का चयन किया जाता था. सत्रहवें पुरस्कार की अवधि थी 1965 से 1974 तक का साहित्य. चूंकि पुरस्कार का एक नियम यह भी है कि जिस भाषा को जिस वर्ष पुरस्कृत किया जाता है उससे अगले तीन वर्ष तक के पुरस्कारों के लिए उस भाषा को विचारार्थ स्वीकृत नहीं किया जाता. मसलन—हिंदी को पहला पुरस्कार मिला 1968 में (1945 से 1961 के बीच प्रकाशित साहित्य पर). इसके बाद 1950 से 1962, 1955 से 1963 और 1960 से 1964 के बीच प्रकाशित साहित्य पर दिये गये पुरस्कारों के लिए हिंदी को विचारार्थ नहीं रखा गया. मगर दूसरी ओर हिंदी में भी, और अन्य सभी भाषाओं में भी, ऐसा साहित्य उस दौर में भी आया जिसे सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है. तब क्या उस साहित्य को पुरस्कृत नहीं होना चाहिए? या ऐसे साहित्यकार जिन्होंने अपने समय में महत्वपूर्ण लेखन किया है मगर जिनकी रचनाएं कालावधि की सीमा की वजह से विचारार्थ नहीं आ सकीं और या जो अब सातवें दशक के बाद या तो लेखन नहीं कर रहे या महत्वपूर्ण नहीं कर रहे, क्या उन्हें सम्मानित होने का अवसर नहीं मिलना चाहिए?

इन तमाम पहलुओं को ध्यान में रख कर ज्ञानपीठ ने पुरस्कार के नियमों में कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन किये हैं. पहला तो यह कि अब रचना नहीं व्यक्ति का चयन किया जाता है. फिर उस व्यक्ति के समग्र लेखन पर विचार किया जाता है और परखा जाता है कि क्या उक्त लेखक ने अपने लेखन द्वारा दो या तीन पुस्तकें साहित्य जगत को ऐसी दी हैं जो श्रेष्ठ की कोटि में आती हों या उनके लेखन का 60 प्रतिशत ऐसा है जो महत्वपूर्ण कहा जा सके? और तब उनमें से सर्वश्रेष्ठ का चयन होता है.

दूसरा यह कि कालावधि का अंतिम वर्ष तो अब भी निश्चित किया जाता है मगर प्रारंभ नहीं. यानी अब किसी भी जीवित लेखक की एक निश्चित वर्ष (महादेवी—1977 से पूर्व प्रकाशित साहित्य पर पुरस्कृत हुयीं) से पहले की प्रकाशित सभी कृतियां विचारार्थ ली जाती हैं. (यह अंतिम वर्ष अभी आठवें दशक के अंतिम वर्ष तक है.) □

प्रस्तुति : बीरेंद्र जैन

कोई बात अनिश्चित या कोई पक्ष अधूरा न रह जाये. योजना के प्रत्येक मूल प्रावधान पर चर्चा हुई, कुछ सुझाव आये और सबसे बड़ी बात यह कि पुरस्कार योजना को इतना व्यावहारिक अवश्य माना गया कि प्रयोग करके देखा जाये और जैसे-जैसे अनुभव प्राप्त हों, हेर-फेर कर लिये जायें.

हम सब बहुत प्रसन्न हुए और जब 24 नवंबर को राष्ट्रपति डॉक्टर राजेंद्र प्रसाद से रमाजी और मैं मिले तो हमारा आत्मविश्वास अधिक मुखर था. उनका आशीर्वाद प्राप्त हुआ. योजना का दायित्व वहन करने वाली जिस प्रवर परिषद का प्रावधान नियमों में था, उसकी अध्यक्षता के विषय में जब उनसे निवेदन किया तो उन्होंने प्रशासनिक स्थिति की कठिनाई बतायी, किंतु उनके अपनत्व ने हमें आश्वस्त कर दिया कि वे हृदय से योजना के पक्ष में हैं. बाद में उनसे कई बार भेंट हुई, पत्र-व्यवहार हुआ और उन्होंने लिखित मंतव्य द्वारा योजना को समर्थन दिया, उसकी सराहना की.

इसके उपरांत योजनाबद्ध रूप में हमने छोटी-बड़ी गोष्ठियों में साहित्यकारों के सामने पुरस्कार की कार्यपद्धति का प्रारूप रखने का निर्णय लिया. 6 दिसंबर, 1961 को कलकत्ते में बंगला के मूर्धन्य साहित्यकारों को आमंत्रित किया. 1 जनवरी, 1962 को कलकत्ते में भारतीय हिंदी परिषद का अधिवेशन आयोजित था. उन्हीं दिनों वहां अखिल भारतीय गुजराती साहित्य परिषद का वार्षिक अधिवेशन भी हो रहा था. यह अवसर इतना विशेष था कि रमाजी ने अपने यहां, इस दिन लगभग 70 प्रमुख साहित्यकारों, साहित्य-समीक्षकों और उक्त दोनों संस्थानों के आगत सदस्यों को आमंत्रित किया. पहले लगभग डेढ़ घंटे तक योजना के प्रारूप पर खुलकर चर्चा हुई—लगभग 30-35 अभ्यागतों ने विचार व्यक्त किये. समर्थन के स्वर जितने सबल थे, आशंकाओं के प्रति सचेत रहने के परामर्श भी उतने ही हार्दिक थे. बैठक के तत्काल बाद जब भोज पर सब इकट्ठे हुए, जो 'बुफे' के रूप में आयोजित था, तो देखा गया कि पांच-पांच, सात-सात साहित्यकारों के अलग-अलग दल योजना पर विचार कर रहे थे. बैठक के समय लगभग 25-30 प्रश्नों का उत्तर देकर रमाजी ने और मैंने योजना के विभिन्न पक्षों को स्पष्ट कर दिया था. इसलिए जो भी विचार-विनिमय हो रहा था, उसमें प्रश्न जहां उठते, उत्तर भी वहीं आपस में प्राप्त हो जाते. श्री साहू शांतिप्रसादजी अभ्यागतों का स्वागत सत्कार तत्परता से कर रहे थे. प्रत्येक की बात ध्यान से सुनते और मन में आश्वस्त हो जाते कि योजना के विषय में सब ठीक-ठाक है. पुरस्कार की राशि को लेकर उनसे प्रश्न किये जाते. एक लाख रुपये का एक पुरस्कार तो बहुत बड़ा हो जायेगा—इतनी भाषाएं हैं, क्यों न 10-10 हजार रुपये के दस पुरस्कार एक वर्ष में दिये जायें. साहूजी मुस्कराकर उत्तर देते, "आप लोगों के कृतित्व का मूल्य, उसमें भी आपके 'श्रेष्ठतम' का मूल्यांकन एक लाख की राशि से भी कहां हो पायेगा?"

प्रारंभिक गोष्ठियों के वृत्त से निकलकर पुरस्कार योजना सार्वजनिक रूप से सबसे पहले साहित्य जगत में 10 मार्च, 1962 को आयी, जब 'धर्मयुग' के संपादक डॉ. धर्मवीर भारती ने भाषाओं के लगभग 100 साहित्यकारों को पत्र लिखे, योजना का छपा हुआ प्रारूप भेजा और उन्हें आमंत्रित किया दिल्ली में 2 अप्रैल, 1962 की उस गोष्ठी में, जो टाइम्स ऑफ इंडिया तथा भारतीय ज्ञानपीठ के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित की गयी. यह गोष्ठी भारतीय साहित्य के इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगी, क्योंकि उपस्थित साहित्यकारों के सामने दो महत्वपूर्ण योजनाएं रखी गयीं—पहली, टाइम्स ऑफ इंडिया की वह योजना, जिसका उद्देश्य था भारतीय साहित्य से चुनी गयी श्रेष्ठ कृतियों का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करना, जिसकी परिचालना डॉ. धर्मवीर भारती ने की और दूसरी भारतीय ज्ञानपीठ की पुरस्कार योजना, जिसकी अध्यक्षता रमाजी ने की. परिचालना और प्रश्नोत्तर का दायित्व मैंने संभाला.

प्रवर परिषद का गठन किया गया. दृष्टि यह रखी गयी कि नाम ऐसे हों, जिनका साहित्य से संपर्क हो, जिनके नाम की इतनी प्रतिष्ठा हो कि उनके पास पैरवीकार न पहुंचें. देशरत्न डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने परिषद की अध्यक्षता स्वीकार की. प्रवर परिषद की पहली बैठक 16 मार्च, 1963 को उनके द्वारा निश्चित की गयी. 16 मार्च की बैठक में प्रवर परिषद ने औपचारिक रूप से पुरस्कार योजना की रूपरेखा और नियमावली स्वीकृत की. उसके बाद लगभग दो वर्ष का समय लगा प्रथम पुरस्कार के लिए नियमानुसार प्रस्ताव-पत्र भेजने, भाषा परामर्श समितियां गठित करने, निर्णय प्राप्त करने, नियम-उपनियम आदि निश्चित करने और उनके अनुसार प्रक्रिया पूरी करने में.

25-26 फरवरी, 1965 को प्रवर परिषद की दूसरी बैठक उस समय हुई, जब भाषा परामर्श समितियों की संस्तुति प्रथम पुरस्कार के लिए प्राप्त हो चुकी थी और भाषा वर्ग समूह समितियों की कठिन प्रक्रिया पूरी करने का प्रयत्न कर लिया गया था. तुलनात्मक मूल्यांकन की प्रक्रिया और भी कठिन थी. उदाहरण के लिए जब हिंदी की संस्तुत कृति 'साकेत' (मैथिलीशरण गुप्त) की तुलना बंगला की 'अग्निवीणा' (नजरुल इस्लाम) से करने का प्रश्न उठा तो ऐसे समीक्षक की आवश्यकता थी, जो दोनों भाषाएं जानता हो, दोनों कृतियों की समीक्षा कर सकता हो, किंतु जिसकी मातृभाषा न हिंदी हो, न बंगला. छानबीन की गयी. तब डॉ. उमाशंकर जोशी ने यह कार्य किया, जिनकी मातृभाषा गुजराती है. इस प्रकार प्रयत्नों की एक शृंखला के माध्यम से प्रवर परिषद अपनी चौथी बैठक में, जो 29 दिसंबर, 1965 को दिल्ली में हुई, पहला पुरस्कार घोषित करने की स्थिति में आयी. यह पुरस्कार मलयालम की काव्यकृति 'ओडक्कुषल' के लिए महाकवि शंकर कुरुप के पक्ष में घोषित किया गया. जिस दिन यह घोषणा रेडियो पर प्रसारित हुई, केरल में अल्वये में एक अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन हो रहा था, जिसमें श्री शंकर कुरुप उपस्थित थे. वात्स्यायनजी वहां थे. इस घोषणा का जो स्वागत उस सम्मेलन में हुआ और शंकर कुरुप को जो बधाइयां मिलीं, उनके जितने अभिनंदन आयोजित हुए, वह ज्ञानपीठ के प्रयत्न की सफलता का दुंदुभिनाद था. देश में कितने साहित्यकार जानते थे कुरुपजी को? किंतु एक दिन में ही मलयालम साहित्य का कवि समस्त भारतीय साहित्य का कवि बनकर राष्ट्र में प्रतिष्ठित हो गया.

पुरस्कार की प्रक्रिया सक्षम है और अधिक से-अधिक निर्दोष है, सर्वमान्य है, निष्पक्ष है, यह इस घोषणा के साथ प्रमाणित हो गया. योजना के नियमानुसार सारी प्रक्रिया पूरी की गयी थी और तब कितनी-कितनी महत्वपूर्ण कृतियों से आगे बढ़कर 'ओडक्कुषल' ने अपने को प्रतिष्ठित किया था, इसका प्रमाण प्रवर परिषद की कार्रवायी में निवेशित है.

इस बीच दूसरे पुरस्कार का कार्य प्रारंभ हो चुका था, लेकिन भारतीय ज्ञानपीठ के सामने एक नया मोर्चा था. पुरस्कार समारोह किस प्रकार आयोजित किये जायें कि देश के इस सर्वोच्च साहित्य-पुरस्कार के अनुरूप वह हों और उसका कार्यक्रम कुछ नयी दिशाएं दे, कुछ नया मानदंड स्थापित करे. हम समारोह की कल्पना की दिशा में मानो एक-एक डग भरते हुए आगे बढ़े. सबसे पहला प्रश्न था कि जिस कृति को पुरस्कार मिला है, वह कृति क्या है और पुरस्कार विजेता का कृतित्व क्या है, यह देशवासियों के सामने कैसे आये? हमने निर्णय लिया कि 'ओडक्कुषल' का अनुवाद हिंदी में ज्ञानपीठ प्रकाशित करे. इतना ही नहीं, मूल मलयालम की कविताओं को देवनागरी लिपि में दिया जाये, ताकि मलयालम की भाषा का, उसके छंद और लय का, उसके संस्कृतनिष्ठ मूल का आस्वाद हिंदी पाठकों को प्राप्त हो. मैं त्रिवेंद्रम गया, वहां के हिंदी अध्यापकों से मिला. कुरुपजी

से परामर्श किया और तब श्री नारायण पिल्लै को अनुवाद के लिए चुना. उन्होंने कलकत्ता आकर हमारे पास रहकर अनुवाद करना स्वीकार किया. उनके मूल अनुवाद की सहायता से उनके साथ बैठकर मैंने अनुवाद का परिमार्जन हिंदी अनुवाद की प्रकृति की दृष्टि से किया. ओडक्कुयल (बांसुरी) का प्रकाशन हुआ. साथ में 'एक और नचिकेता' का भी, जो कुरुपजी का कविता संग्रह है.

समय की सीमा सामने थी. निर्णय किया गया कि दिल्ली में नवंबर, 1965 में समारोह आयोजित हो. चाहते थे कि समारोह की अध्यक्षता कोई नोबेल पुरस्कार विजेता करे. यूनानी कवि जॉर्ज सेफरिस को पत्र लिखा, उनसे टेलीफोन पर बात की. नोबेल विजेताओं पॉर लागरक्विस्ट, हालडार लैक्सनेस, ज्यां पाल सार्त्र और बर्ट्रेंड रसेल से पत्र-व्यवहार किया. सबकी शुभकामनाएं प्राप्त हुईं, आना किसी के लिए संभव नहीं हुआ. समारोह के लिए निमंत्रण पत्र का जो डिजाइन बनाया गया, वह हिंदी अक्षरों की शास्त्र-लिपि में स्वर्णिम लता के अलंकरण के साथ मुद्रित हुआ. प्रशस्ति-पत्र के लिए भारतीय मांगलिक प्रतीकों का सहारा लिया गया. अष्टमंगल प्रतीकों को रजट-पट पर उकेरा गया. सबसे रोमांचक खोज थी वाग्देवी की प्रतिमा की, जिसे पुरस्कार के प्रतीक के रूप में निश्चित किया गया. यह मूर्ति ब्रिटिश संग्रहालय में है. इसे धारा नगरी में सन् 1035 में राजा भोज ने सभा मंडप में स्थापित किया था. शिल्पी श्री चिंतामणि कर ने इस मूर्ति के चित्र पर से अनुकृति तैयार की. संग्रहालय में रखी मूर्ति का एक हाथ खंडित है.

श्री कर ने उसे सर्वांग बनाया. रमाजी की कलात्मक सुरुचि ने और विशेषकर उनकी इस दृष्टि ने कि व्यय को नहीं देखना है, कलात्मक और रचनात्मक जो हो सके, करना है, हम सबको उत्साहित किये रखा. हमने कोई कसर नहीं उठा रखी कि समारोह का प्रत्येक पक्ष कलात्मक हो. प्रवेशद्वार की कलात्मक निर्मिति, रांगोली-अल्पना से सज्जित दीर्घा, मंच की पृष्ठभूमि की सज्जा, वाग्देवी वंदना के लिए वेद की ऋचाएं (जिन्हें वात्स्यायनजी ने छांट कर दिया था.) और पूजा-नृत्य के रूप में उसकी प्रस्तुति, ज्ञानपीठ प्रकाशनों की प्रदर्शनी का स्वच्छ आकर्षक नियोजन, शंख-ध्वनि और तिलक आदि प्रत्येक कार्य में रमाजी ने मार्गदर्शन किया. जिस दिन समारोह हुआ, मानो भव्यता साकार हो गयी. सांस्कृतिक कार्यक्रम के रूप में प्रबंध किया था कि कवि कुरुप की रचनाओं का हिंदी अनुवाद दिनकरजी और बच्चन जी प्रस्तुत करें. एक कविता 'शिल्पी' का अंग्रेजी अनुवाद श्री अल्काजी (तत्कालीन निदेशक, नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा) ने प्रस्तुत किया. श्रीमती कुंथा जैन ने स्वयं यह प्रबंध कर लिया कि यामिनी कृष्णमूर्ति कुरुपजी की कविता 'अर्धनारीश्वर' के संस्कृत अनुवाद पर नृत्य प्रस्तुत करें.

प्रत्येक समारोह के अवसर पर जो स्मारिका प्रकाशित होती है, उसमें भारतीय भाषाओं के उन साहित्य-समीक्षकों के परिचय होते हैं, जिनका योगदान पुरस्कार को प्राप्त होता है—लगभग सौ साहित्यकार और समीक्षक.

अब तक उन्नीस पुरस्कार घोषित हो चुके हैं. दो पुरस्कार ऐसे हैं, जिनका दो-दो साहित्यकारों में विभाजन हुआ. ज्ञानपीठ का न्यासधारी मंडल इस पक्ष में नहीं कि पुरस्कार-राशि का विभाजन हो, किंतु प्रवर परिषद ने दो बार आग्रहपूर्वक न्यासधारी मंडल से अनुरोध किया कि राशि का विभाजन स्वीकृत हो.

अठारहवें पुरस्कार से पुरस्कार राशि भी एक लाख से बढ़ाकर डेढ़ लाख कर दी गयी है.

मैं जानता हूं कि विचार-विनिमय में प्रवर परिषद के सदस्य कितनी निष्पक्षता से काम लेते हैं. निर्णय सर्वसम्मत होते हैं. यद्यपि सहमति तक पहुंचने की प्रक्रिया सीधी नहीं होती, बहुत ऊहापोह होती है, जो उचित है और आवश्यक भी. □

प्रवर परिषद का प्रारंभ और दैवी आशंकाएं

लगभग दो वर्षों की साधना, श्रम और साहित्यकारों के देशव्यापी सहयोग के बल पर जब पुरस्कार योजना को एक सुनिश्चित रूप दे दिया, प्रवर परिषद का गठन कर लिया और प्रवर परिषद की अध्यक्षता के लिए डॉ. राजेंद्र प्रसाद की स्वीकृति प्राप्त कर ली तो परिषद की पहली बैठक निश्चित करने के लिए फरवरी 1963 में उनसे अनुरोध किया गया. बैठक का कार्यक्रम निश्चित करने और विचारणीय समस्याओं के विषय में अपना मंतव्य देने के लिए राजेंद्र बाबू ने मुझे पटना बुलाया. मैं सदाकत आश्रम में उनसे मिला. उन्होंने मार्च 1963 में पहली बैठक बुला लेने का आदेश दिया. तारीख वे पत्र द्वारा सूचित कर देंगे, यह कहा. मैं जब विदा लेने लगा तो मुझे बैठा लिया, थोड़ी देर कुछ सोचा, फिर कहा—"पता नहीं. यह सब हम देख पायेंगे या नहीं." देखता रह गया.

पटना से लौटकर मैंने सब बात साहूजी को और रमाजी को बतायी. दोनों अधीर हो गये. निर्णय किया कि जितनी जल्दी हो सके, सब प्रक्रिया पूरी करके पुरस्कार समारोह श्री राजेंद्र बाबू की अध्यक्षता में कर लें, ताकि उनका मन आश्वस्त रहे. 27 फरवरी को राजेंद्र बाबू का पत्र प्राप्त हुआ कि बैठक 16 मार्च को रख ली जाये. क्योंकि बंबई में वे भारतीय विद्या भवन के समारोह की अध्यक्षता करके 15 मार्च को दिल्ली आ जायेंगे. उनका पत्र हमारे हाथों ही में था कि 28 फरवरी को उनके निधन के हृदयविदारक समाचार ने हमें आहत कर दिया. सारा देश शोक में डूब गया. ज्ञानपीठ और प्रवर परिषद के लिए यह अप्रत्याशित वज्रपात था.

साहूजी और रमा जी ने यह उचित समझा कि प्रवर परिषद की पहली बैठक उसी तारीख को हो, जो स्वर्गीय राजेंद्र बाबू ने निश्चित की थी. 16 मार्च 1963 को बैठक निश्चित कर दी गयी. प्रवर परिषद के सभी सदस्यों को सूचना भेज दी गयी

परामर्श के उपरांत निश्चित किया गया था कि प्रवर परिषद का अध्यक्ष श्री पतंजलि शास्त्री को बनाया जाये. शास्त्री जी दिल्ली आ गये, किंतु बैठक में वे नहीं पहुंचे. हम लोग प्रतीक्षा कर रहे थे कि टेलिफोन प्राप्त हुआ कि शास्त्री जी आते ही अस्वस्थ हो गये हैं. उपचार हो रहा है. बैठक प्रारंभ हुई. पहले सत्र की अध्यक्षता डा. संपूर्णानंद के प्रस्ताव पर काका साहब ने की. दूसरे सत्र की अध्यक्षता काका साहब के प्रस्ताव पर डॉ. संपूर्णानंद ने की. दोनों सत्र समाप्त हुए. योजना का प्रारूप एक-दो सामान्य संशोधनों के उपरांत स्वीकृत हो गया. हम प्रसन्न होते, किंतु अगले दिन ही दिल्ली के अस्पताल में श्री पतंजलि शास्त्री का निधन हो गया.

दुर्भाग्य की छाया अधिक काली और लंबी होती दिखाई दी. प्रवर परिषद के दोनों अध्यक्षों को पहली बैठक से पहले ही इस प्रकार खो देने के उपरांत जो संस्कारबद्ध आशंका और भय मन में बैठा, उसकी चर्चा हममें से किसी ने एक दूसरे से नहीं की. गुमसुम रहकर हमने श्री पतंजलि शास्त्री का शव राजकीय हवाई अड्डे से विदा किया. □

—ल. चं.

गणदेवता

ताराशंकर वंद्योपाध्याय

खंड : एक :

चंडीमंडप

कारण मामूली-सा था. बस्ती के लुहार अनिरुद्ध कर्मकार और बढ़ई गिरीश सूत्रधार ने नदी के उस पार बाजार में अपनी-अपनी दूकान कर ली थी. तड़के ही उठकर चल दिया करते और लौटते रात के दस बजे. लिहाजा गांववालों की असुविधाओं का अंत नहीं था. इसी बात को लेकर अनिरुद्ध और गिरीश के खिलाफ लोगों के असंतोष की सीमा नहीं थी. सो हार-थारकर गांव वालों ने पंचायत बुलायी. गिरीश और अनिरुद्ध भी आये. मजलिस के लगभग बीच में जमकर बैठा था छिरू पाल. छिरू यानी श्रीहरि पाल ही इस बस्ती का नया धनी था. एक ओर खंभे से लगकर खड़ा था देवनाथ घोष. वह स्थानीय यूनियन बोर्ड के फ्री प्राइमरी स्कूल का अध्यापक था. शुरुआत अनिरुद्ध ने की. बैठते ही एक बार चेहरे को अच्छी तरह से हाथ से पोंछ लिया और कहा, "जी हां, तो क्या कहना है, कहिए."

हरीश मंडल ने ही शुरू किया. कहा, "सुनो भैया, तुम दोनों ने शहर में अपना कारोबार शुरू किया है. ठीक ही किया है. जहां दो पैसे मिलेंगे, आदमी वहीं जायेगा. जाओ. लेकिन यहां एकबारगी सब समेट

'गणदेवता' पहली कथा रचना है जिसे ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया. अतः इस अंक के कथापक्ष का प्रारंभ हम इस उपन्यास के संक्षिप्त रूपांतर से कर रहे हैं. स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले दो भागों में लिखे गये इस उपन्यास की प्रासंगिकता आज भी कम नहीं हुई है. देबू, अनिरुद्ध, जगन डाक्टर जैसे जुझारू चरित्रों से आज भी हमारी मुलाकात हो सकती है तो दूसरी ओर छिरूपाल जैसे लोग भी इस समाज के लिए अभी अजनबी नहीं बन पाये. तो आइए, गणदेवता के कथासंसार में प्रवेश करें.

लो. हम कंधे पर सामान उठाए, नदी पार करके यह दो कोस रास्ता दौड़ा करें. यह तो नहीं होने का."

अनिरुद्ध बोला, "जी हां, असुविधा तो कुछ जरूर हुई है आप लोगों को."

छिरू यानी श्रीहरि पाल गरज उठा, "कुछ? कुछ क्या कहते हो? पता है, खेत में पानी रहते हुए भी चूंकि फाल नहीं पजाया जा सका, इसलिए खेती बंद करनी पड़ी?"

सारी मजलिस लगभग एक स्वर में बोल उठी—"बिल्कुल."

अनिरुद्ध अब जरा सप्रतिभ हो संभलकर बैठा और बोला, "अब हमारी सुनिए, मैं आप सबका फाल पजा देता हूं, पहियों में हाल चढ़ाता हूं, हंसिया में धार कर देता हूं, बदले में आप हल पीछे मुझे कच्ची पांच सोली (एक सोली अर्थात बीस सेर) धान देते हैं. हम इसी पर आज तक काम भी करते आये हैं. लेकिन आपसे बता दूं, अपना पावना हम प्रायः पाते नहीं हैं."

"नहीं पाते हो?"

अब गिरीश ने भी कहा, "जी नहीं. प्रायः सभी लोग कुछ न कुछ बाकी रख लेते हैं. और वह बाकी हमें फिर कभी नहीं मिलता. हम लोगों से अब नहीं बनता. और जो पंचायत छिरू पाल पर शासन नहीं कर सकती, उस पंचायत को हम नहीं मानते."

वे दोनों तेजी से निकल गये. बैठक टूट गयी.

दूसरे ही दिन सुबह खबर मिली, अनिरुद्ध के दो बीघे खेत का कुल अधपका धान किसी ने काट दिया है.

उजड़े खेत की मेड़ पर खड़े होकर अनिरुद्ध ने थिर आंखों जरा देर देखा. निष्फल क्रोध से अपनी लोहा पीटने वाली हथेलियों को मुट्ठी बांधकर उसने शिकंजे-जैसा सख्त कर लिया. बड़ी ही तेजी से घर लौटा और अपने अधबंहिया कुरते को पहनते हुए दरवाजे की तरफ बढ़ा.

अनिरुद्ध की पत्नी का नाम है पद्मणि—कद की लंबी, जवान. अनिरुद्ध को इस ढंग से बाहर जाते देख वह उससे भी तेजी से चलकर आगे जा खड़ी हुई. बोली, "जा कहां रहे हो?"

अनिरुद्ध ने कहा, "मारपीट करने नहीं जा रहा हूं, थाने पर जा रहा हूं. रास्ता छोड़ दे." गुस्से से अनिरुद्ध की आवाज रौ-रौ कर रही थी. पद्म ने थिर भाव से गरदन हिलाकर कहा, "छिरू मंडल ने तुम्हारा धान चुराया है, इस बात पर इस इलाके में कौन यकीन करेगा?"

"अरे अभी भाई हो?" तभी गिरीश पुकारते हुए अंदर आ गया.

बाहर रास्ते पर ही साइकिल की टुनटुन घंटी बजी. और साथ ही साथ आवाज आयी—"अनिरुद्ध." डाक्टर जगन्नाथ घोष थे.

अनिरुद्ध और गिरीश दोनों जने बाहर निकले. उनके बाहर निकलते ही डाक्टर ने बिना किसी भूमिका के कहा, "थाने में डायरी लिखा दी?"

"जी, सभी मना कर रहे हैं. कहते हैं, छिरू पाल ने चोरी की है, भला इस बात पर कौन विश्वास करेगा?"

साइकिल पर सवार होकर डाक्टर ने कहा, "तू बेफिक्र जा. मैं शाम को आऊंगा. यह मत कहना कि चोरी करने के लिए धान काट लिया है. कहना कि गुस्से में मेरा नुकसान करने के लिए चोरी की है."

अनिरुद्ध फिर घर के अंदर नहीं गया कि कहीं पद्म फिर न बाधा दे. वह डाक्टर की साइकिल के साथ-साथ ही चलने लगा.

दूसरे दिन पुलिस की जांच-पड़ताल हो गयी. अनिरुद्ध ने छिरू पाल पर संदेह करके नालिश की थी, लेकिन पुलिस ने आकर बेहार जोतने वाले सतीश बाउरी के घर की खाना तलाशी की और तहस-नहस करके उसे खींच लायी. घंटों उससे पूछताछ करके उसके नाकों दम कर दिया और अंत में उसे छोड़ भी दिया. हां, छिरू पाल के घर के खलिहान को भी एक बार घूम-घामकर देखा पुलिस ने—लेकिन वहां दो बीघा जमीन के अधपके धान का एक तिनका भी न मिला.

छिरू मारे क्रोध के अपने मन में ही ऐंठ रहा था. उसके दिमाग में बहुत-सी बातें चक्कर काट रही थीं.

"घर में आग लगा दूं तो कैसा रहे?"

दूसरे ही क्षण लगा—न! जरा सी उत्तेजना में ऐसा कुछ कर बैठने से, हो सकता है—शायद फिर ऐसे ही झमेले में पड़ना पड़े. आज ही जमादार को पचास रुपये देने पड़े. अनिरुद्ध रात के नौ-दस बजे उस पार से लौटता है. अंधेरे में अचानक हमला—न! कहीं पकड़ा गया तो फांसी हो जायेगी. हां! एक तरकीब और है. अनिरुद्ध जब घर में नहीं रहे तो दीवार फांदकर पद्म को. . .! श्रीहरि का कलेजा जोरों से धड़कने लगा. लेकिन लंबी-तगड़ी उस लुहारिन का वह गंडासा बड़ा तेज है.

श्रीहरि की स्त्री चिलम भरकर दे गयी. चिलम श्रीहरि को जंची नहीं. दीवार की कील में टंगे कुरते से बीड़ी-दियासलाई निकालकर वह निकल पड़ा. अंधेरी गलियों से होता हुआ वह हरिजन टोले के पास पहुंचा. श्रीहरि ने एक बीड़ी सुलगायी और जलती हुई बीड़ी पातू के छप्पर पर फेंक तेजी से अपने घर की ओर चला गया. कुछ ही देर में गांव के ऊपर का अंधेरा आसमान लाल आभा से भयावना हो उठा. अकेले पातू का नहीं, पातू के घर की आग ने फैलकर हरिजन टोले के सारे घरों का ही स्वाहा कर दिया.

सारे टोले को जलाने की नीयत श्रीहरि की नहीं थी. लेकिन जब स्वाहा हो ही गया तो उसका भी अफसोस उसे नहीं हुआ. जल गया तो ठीक ही हुआ. बीच-बीच में ऐसा विपर्यय हुए बिना ये छोटे लोग नवते नहीं. कमबख्तों का दिमाग ऊंचा होता जा रहा था. बड़ी देर तक रुके रहने के बाद वह उठा और उस स्वाहा हुए टोले की तरफ चला. लेकिन जाते-जाते भी कई बार पलटा. अजीब सकुचाहट-सी हो रही थी उसके भीतर. अंत में अपने चरवाहे के घर जाने की सोच वह आगे बढ़ा. घर का चरवाहा—ऐसी आफत के समय उसकी खोज लेना फर्ज था. चरवाहे के बाप से उसने कहा, "सुन, जितना पुआल लगे, मेरे यहां से ले आ. लकड़ी-बांस भी ले लेना—छौनी कर ले. कल धान भी ले लेना—समझा?"

लड़के का बाप एक प्रकार से श्रीहरि के पैरों पर लोट गया. इस बीच और भी दो-एक जने आ खड़े हुए थे. एक ने हाथ जोड़कर कहा, "जी, थोड़ा बहुत करके हमें भी अगर धान देते. उसके बिना तो भूखों मरने की नौबत होगी."

"खैर, आज हर घर को पांच सेर के हिसाब से चावल दे देता हूं. थोड़ा बहुत धान भी दूंगा. टोले में सबको कह देना."

"जय हो. आपकी जय-जयकार हो. दूध-पूत से फलें आप." श्रीहरि की उदारता से अभिभूत होकर वह आदमी दौड़कर मुहल्ले में गया.

देवनाथ घोष—देबू पंडित जरा स्वतंत्र-सा आदमी है. अपनी विद्या-बुद्धि पर उसे अगाध विश्वास है. खोज-खोजकर वह किताबें जुटाता और पढ़ता है. देबू का खयाल है, यदि पढ़ने का मौका मिलता तो वह मजिस्ट्रेट तक हो सकता था. लेकिन अचानक बाप की मृत्यु हो गयी. खेती-बारी, घर-गृहस्थी देखनेवाला दूसरा आदमी नहीं था घर में. पास एक कौड़ी नहीं, घर में धान का दाना नहीं. इसी से पढ़ाई छोड़कर वह गृहस्थी में लग गया.

अपने गांव को वह प्राणों से प्यार करता है. उसे वह अपनी आंखों के सामने दिन-दिन अवनति की ओर लुढ़कते देख रहा है, पैसे और लाठी की ताकत से छिरू मनमानी कर रहा है. और सिर्फ छिरू ही क्यों, गांव का कोई भी किसी को नहीं मानता. सामाजिक आचार-व्यवहार सब खत्म हो चला है. गांव में कोई मरता है तो उसकी लाश निकलने में मुश्किल पड़ती है. सामाजिक भोज में गरीब-अमीर का एक ही पंक्ति में भेद दिखाई पड़ता है, लुहार, बढ़ई, बजनिये ने काम छोड़ दिया है, दाई-नाऊ सनातन नियमों को तोड़ने पर उतारू हैं. ऐसे प्रश्न जिनका सिरदर्द बने रहते हैं, देबू उन्हीं लोगों में से है.

अनिरुद्ध और छिरू पाल—इन दो व्यक्तियों ने गांव की सारी श्रृंखला तोड़ दी. गिरीश बढ़ई और तारा हजाम भी साथ हैं. जमींदार को, धनी महाजन को देबू घृणा करता है. जब वह छोटा था, तब एक बार बाकी लगान के लिए जमींदार बाबुओं ने उसके पिता को सारा दिन कचहरी में रोक रखा था. भयभीत देबू तीन बार बाबुओं की कचहरी में जाकर खड़ा-खड़ा रोता रहा था. दो बार दरबान की डांट खाकर भाग भी आया था. आखिरी बार उसे देखकर बाबू ने कहा था, "अगर अबकी बार तू आया छोरे, तो जेल में बंद कर दूंगा." देबू को महज डराने के लिए उन्होंने ऐसा कहा था. यह बात देबू आज समझता है. लेकिन उसकी यह धारणा हरगिज नहीं गयी कि जमींदार जुल्मी होते हैं.

चंडीमंडप में बैठकर पढ़ाते हुए देबू चंडीमंडप की सोचता. वह चंडीमंडप कभी गांव का हृदय था, जीवन-शक्ति का केंद्र. पूजा-पाठ, आनंद-उत्सव, विवाह-श्राद्ध सब यहीं होता था. गांव में जोर जुल्म, अन्याय-अविचार दिखाई पड़ता तो यहीं पंचायत बैठा करती थी. यहीं फैसला होता था. कुछ दिन पहले देबू ने चंडीमंडप के बारे में विश्वनाथ से चर्चा की थी. विश्वनाथ ने हंसकर जवाब दिया था, "चंडीमंडप बूढ़ा हो चुका है, अब वह मरेगा."

देबू ने अधिक तीव्रता से प्रतिवाद करते हुए कहा था, "छिः छिः, विशु भाई, तुम न्यायरत्न के पोते हो. तुम्हारे मुंह से यह बात नहीं सोहाती. तुम्हें इसका प्रायश्चित करना चाहिए." देबू जी-जान से अपने संस्कार को जकड़े हुए है.

लड़कों को छुट्टी देने के बाद भी देबू चंडीमंडप में अकेले बैठकर यही सब बातें सोच रहा था कि किसी ने रास्ते से आवाज दी, "अजी ओ, गुरुजी!"

"कौन?"

"हाय राम. बैठे-बैठे इतना क्या सोच रहे हो?" पातू की बहन दुर्गा दूध बेचने जा रही थी. उसी ने रास्ते से टोककर बात की.

भौंवें सिकोड़कर देबू ने कहा, "उससे तुझे क्या मतलब?"

दुर्गा को देबू फूटी आंखों भी नहीं देख सकता था. बदचलन है वह, गयी बीती, पापिन, खास करके वह उस छिरू से गहरा संबंध रखती है. उसे देबू घृणा करता है.

दुर्गा ने हंसकर कहा, "मतलब मुझे नहीं, तुम्हारी बहू को है. दरवाजे पर खड़ी बिलू दीदी रास्ता निहार रही है."

अरे हां, ठीक तो! देबू को अब खयाल आया. वह झटपट उठा. ओह, काफी वक्त हो गया. वह जल्दी-जल्दी भागकर घर पहुंचा. देबू के चले जाने के बाद भी दुर्गा देर तक खड़ी रही. देबू उसे अच्छा लगता है, बहुत अच्छा. छिरू को अब वह घृणा करती है.

जाड़ों के दिन—पानी की कनकनी सुई-सी चुभाती. सबेरे-सबेरे दो बार नहाने से पद्म अनमनी-सी हो गयी. दिन भर में भी उसकी तबीयत संभली नहीं. रसोईघर की गरमी में भी उसे आराम नहीं मिला. सब बना चुकी, मगर खाया कुछ नहीं. अनिरुद्ध के लिए रख दिया. अनिरुद्ध सबेरे ही कलेवा लेकर मयूराक्षी के उस पार अपनी नयी दूकान को चल दिया था. तीसरे पहर वह लौटा. पद्म चुपचाप दीवार के सहारे बैठी थी. अनिरुद्ध को देखकर उसने उठना चाहा लेकिन

आत्मरक्षा का कोई कवच हमारे पास नहीं है।

▣ ताराशंकर बंद्योपाध्याय

आज भारत की चारों दिशाओं की ओर दृष्टि दौड़ाकर देश के बहिर्लोक तथा अंतरलोक का उभयतः कौन-सा चित्र देख रहा हूं? स्वाधीनता के बाद से राष्ट्रीय एकता और एकीकरण के लिए चेष्टाएं तो कम नहीं हुई. किंतु चारों ओर देखकर लग रहा है कि उससे कोई लाभ नहीं हुआ. भौगोलिक व्यवस्था के रूप में देश ने चाहे जितनी तरक्की क्यों न की हो, कृषि व्यवस्था के लिए जितनी बड़ी सिंचाई-योजना क्यों न बनी हो, मनुष्य के हृदय रूपी खेत में अमृत सींचने का कोई काम नहीं हुआ. शिक्षा का प्रसार होते हुए भी वह बांझ होती आयी है. हमारे जीवन में मानों अखिल भारतीय एकता बोध के पुष्पहार टूटकर सारे फूल स्खलित होकर गिरने ही वाले हैं, ऐसा लग रहा है. मानो हमारे हृदय में नष्ट होने की आशंका है, इसीलिए राष्ट्रीय एकता बनाये रखने की आर्तवाणी हम उच्च कंठ से अपने आपको सुना रहे हैं. आज कभी भाषा, कभी

उठ न सकी, कांपते-कांपते वह दीवार के सहारे धीरे-धीरे नीचे को बैठी और फिर धरती पर लुढ़क गयी.

अनिरुद्ध जगन डाक्टर के पास दौड़ा. रास्ते में चंडीमंडप में डाक्टर की आवाज सुनाई पड़ी. वह वहां गया, उस समय वहां गांव के सभी लोग इकट्ठे हुए थे. और डाक्टर, केवल यही कहता जा रहा था—दरखास्त दूंगा. कमिश्नर को तार दूंगा. वरदी-पेटीवाला एक सरकारी चपरासी चंडीमंडप की दीवार पर एक नोटिस चिपका रहा था—"अगली पूस से इस गांव में सर्वे सेटलमेंट की खानापूरी होगी. लोगों को आदेश दिया जाता है कि वे अपने-अपने खेतों पर मौजूद रहें और अपनी चौहद्दी दिखा दें. ऐसा न करने पर उन पर कानूनी कार्रवाई की जायेगी."

देबू एक किनारे चुपचाप खड़ा था. अनिरुद्ध लपककर उसी के पास पहुंचा. जंक्शन बाजार से लौटते वक्त दुर्गा से उसने सारी बातें सुनी थीं. देबू को वह सदा से चाहता है, उस पर श्रद्धा रखता है. उस रोज भी वह उस पर ठीक नाराज नहीं हुआ था, बल्कि रूठा था. आज भी दुर्गा से जो सुना तो उसका वह रूठना जाता रहा और गाढ़े स्नेह से जी भर गया. आवेश से कांपती हुई आवाज में बोला—"देबू भाई!" अनिरुद्ध रो पड़ा.

पद्म की मूर्छा बाकायदा एक रोग हो गयी. लगभग एक महीने तो वह रोज ही मूर्छित हो जाती. परिणाम यह कि उतने में ही बांझ पद्म का बलिष्ठ शरीर कमजोर और दुबला हो गया. अभावों के दुख पर यह दुश्चिंता. अनिरुद्ध कहीं पागल न हो जाये. जगन डाक्टर की सलाह से उस रोज वह कंकना अस्पताल के डाक्टर को बुला लाया. अस्पताल के डाक्टर ने बताया, "यह एक प्रकार की मूर्च्छा है. खासकर बांझ औरतों को, जिन्हें बाल-बच्चे नहीं होते, यह बीमारी ज्यादा होती है."

पूस की संकरात के दिन पूस-लक्ष्मी यानी पूस-पर्व. नवान्न के डेढ़ेक महीने बाद गांववालों के जीवन में एक और सार्वजनिक उत्सव आया. लेकिन अनिरुद्ध की कोई तैयारी नहीं हुई. एक तो पद्म बीमार, तिस पर हाथ बिल्कुल खाली. पूस का पूरा महीना ही उसका लुहारखाना बंद रहा.

इधर सरकारी सेटलमेंट आया है. नोटिस दी गयी है कि अपनी-अपनी जमीन की मिल्कियत और हकूक के सबूत के साथ हाजिर रहना पड़ेगा. नहीं तो सेटलमेंट के कानून के मुताबिक दंड दिया जायेगा. एक टुकड़ा जमीन के लिए कानूनगो और अमीनों के साथ सुबह से तीसरा

धर्म, कभी प्रादेशिकता, आदि किसी न किसी बहाने हमारे दीर्घपोषित संशय, कुटिल अविश्वास तथा स्वार्थ पर मय ज्वालामुखी के अंतरंग में बहने वाले लावा की तरह फूटकर हमारे जीवन को विपर्यस्त तथा भग्नप्राय: आस्था को घातक चोट पहुंचा रहे हैं.

आत्मरक्षा का कोई अस्त्र या कवच आज हमारे पास नहीं है. एक दिन था जब इस चिरपोषित संशय, अविश्वास और भय के होते हुए भी हम उसे पराजित कर अखिल भारतीय बृहत् जीवन की वेदी पर एक महान अभिप्राय से एकत्रित होकर आकाश की ओर हाथ उठाकर खड़े हुए थे. अब वह वेदी टूट गयी है. इसीलिए मन का आंगन आज सूना पड़ा है. जीवन जिस आस्था के अग्निकुंड को मनोलोक की वेदी पर पवित्र होमाग्नि की तरह धारण कर प्रदक्षिण करता है, और जिसके उत्ताप व आलोक में सारा जीवन अपने विशिष्ट स्वरूप की रचना कर लेता है, वह अग्निस्थली भी आज खाली पड़ी है. जो विश्वास घना होकर जीवन का आवेग बना कर्म में अपनी मूर्ति ग्रहण करता है, वह विश्वास आज नहीं रहा. पुरातन विश्वास, काल के अपरिहार्य नियमानुसार समाप्त हो गया है, किंतु भारतवर्ष के मनुष्य के जीवन में आज भी नवीन विश्वास का आविर्भाव नहीं हुआ है. □

(ज्ञानपीठ पुरस्कार समर्पण समारोह में दिये गये भाषण से)

पहर हो जाता; पके धान के खेतों से जंजीर खींचते हुए उस जमीन तक पहुंचने में चार-पांच दिन लग जाते. उस टुकड़े के बाद चार-पांच दिन फिर कुछ नहीं, उसके बाद ही कहीं दूसरा टुकड़ा. अनिरुद्ध ही की नहीं, सारे गांव के लोगों की जिल्लत-जहमत का अंत नहीं था. पूस की संकरात पर घर में लक्ष्मी का सिंहासन बिठाने की तैयारी चल रही थी, लेकिन लक्ष्मी तो अभी खेतों में ही थी.

पद्म चुपचाप रो रही थी.

"लुहार बहू!" यह कहती हुई जो आयी वह थी दुर्गा. उसे देखकर पद्म का सर्वांग जल उठा. हंसकर दुर्गा ने कहा, "तुमसे एक बात कहनी है. हाय राम, रो रही थी? क्या हुआ? लुहार से झगड़ा हुआ है, क्यों?"

"यह सब जानकर तुम क्या करोगी? इतनी खोजबीन, जैसे कितनी अपनी है मेरी."

"अपनी तो हूं ही बहन. सौतिन हूं तुम्हारी. तुम्हारा पति मुझे चाहता है."

पद्म अब आपे से बाहर हो गयी. उसने रसोई से झाड़ू उठा ली.

हंसकर दुर्गा थोड़ा खिसक गयी. बोली, "छू जाओगी तो इस असमय में नहाना पड़ जायेगा. पहले मेरी बात तो सुन लो बहन, फिर न हो तो झाड़ू फेंककर मारना."

दुर्गा ने इस बीच दरवाजा बंद कर दिया. लौटी, तो उससे छू न जाये, इतनी दूर से बोली, "दूसरे को झाड़ू लगा सकती हो, लेकिन अपने पति को? वह भी तो मेरा है, खैर, जाने दो. मजाक नहीं—ये चीजें सहज लो." और उसने अपनी कमर पर से एक टोकरी उतारी जो कपड़े से छिती थी. उसमें से लोटे में दूध, एक मटके में गुड़, दो छिले हुए नारियल, सेर भर तिल, एक डिब्बे में पाव भर तेल—और भी कुछ चीजें निकालीं. बोली, "लक्ष्मी पूजा का इंतजाम करो बहन." दुर्गा टोकरी लेकर उठ खड़ी हुई. बोली, "लोटा-कटोरा कल आकर ले जाऊंगी. अभी चलती हूं."

एकाएक क्या से क्या हो गया. दुर्गा की चीजों को उसने लौटाया नहीं, लात मारकर बिखेरा भी नहीं.

तभी अनिरुद्ध अंदर आया. बोला, "गुरुजी को पकड़ ले गये."

"पकड़ ले गये? कौन?"

"सेटलमेंट के हाकिम ने परवाना भेजा था. थाने के लोग आकर पकड़ ले गये."

देबू घोष पर इलजाम एक नहीं था. सरकारी जरीब के साथ काम में रुकावट डालने और सर्वे विभाग के अमीन को पीटने के जुर्म का मुजरिम. देखते-देखते गांव के प्राय: सभी लोग जुट आये थे. मामले को दबाकर चालाकी से उसे छुड़ाने की बात हो रही थी. अगुआ उसका श्रीहरि था, साथ था जमींदार का गुमाश्ता दासजी. छोटा दारोगा श्रीहरि का दोस्त था. श्रीहरि ने उसी से पैरवी की. मन ही मन देबू उसे घृणा करता है—श्रीहरि को यह मालूम है. लेकिन गांव के प्रधान के नाते आज श्रीहरि को देबू की तरफदारी करनी ही थी.

छोटे दरोगा ने कहा, "पेशकार के पास जाओ. उसे पकड़ो, कोई रास्ता निकल आयेगा. जिस अमीन-कानूनगो से लड़ाई हुई है, उन्हीं को खुश करो."

घटना यों घटी. देबू के एक खेत की नापी के समय कानूनगो से उसकी बतकही हो गयी. विवाद का कारण था कि देबू जमीन की रसीद नहीं ले आया था. वह जवाब ही दे रहा था कि एकाएक उसकी नजर पड़ी, उसके खेत के बीच-बीच में पके धान से जंजीर खींची जा रही है. उसने समझा, कानूनगो ने यह जानबूझकर ही किया है. मगर असल में यह कानूनगो ने जानकर नहीं किया था. देबू की जमीन की बनावट ही कुछ ऐसी टेढ़ी-मेढ़ी थी कि बीच की चौड़ाई की नाप लिये बिना चारा न था. गुस्से से गलत समझकर देबू एक अनर्थ कर बैठा. उसने जरीब की जंजीर खींचकर अलग फेंक दी. फेंकना था, नक्शा और जंजीर लेकर कानूनगो डिप्टी साहब के पास गया और रिपोर्ट कर दी. उसी का नतीजा हुआ. एक बारगी गिरफ्तारी का वारंट.

देखते-देखते एक साल बीत गया. एक पूस की संकरात से दूसरे पूस की संकरात माघ-फागुन के दो महीने और. उस रोज चैत की पांच तारीख थी. देबू घोष जंक्शन स्टेशन पर उतरा. चैत की दुबली-पतली मयूराक्षी नदी को पार करके शिवकालीपुर के घाट पर वह जरा खड़ा हुआ. एक साल तीन महीने पहले की लंबी सजा काटकर वह घर लौट रहा था. गांव में प्रवेश करते ही एक छोटी-सी भीड़ से भेंट हो गयी. उसके दरवाजे पर भी गांव की औरतें खड़ी थीं. दो कुमारी लड़कियों की कमर पर जल-भरे घट थे. देबू अभिभूत हो गया. उसके स्वागत अभिनंदन के लिए गांव वालों में कितना गाढ़ा आग्रह है. अचानक शंखध्वनि हुई. देबू ने देखा वह पद्म थी.

देबू के जीवन में यह एक अनोखा दिन था. दुख और गरीबी से जर्जर, नीचता और दीनता से भरे इस गांव के किस अस्थि पंजर की ओट में छिपी थी ऐसी सुंदर, उदार-स्नेह ममता. उसने बिलू से कहा, "जरा बाहर से हो आऊं. चौधरी जी आये हैं. आदमी को सुख में नहीं पहचाना जाता. बिलू, उसे ठीक-ठीक पहचाना जा सकता है दुख में, पहले मुझे लगता था कि ऐसा स्वार्थी और नीच गांव दूसरा नहीं है."

बिलू ने हंसकर कहा, "तुम आदमी कितने बड़े हो, प्यार नहीं करेंगे लोग."

साल भर में बहुत कुछ हो गया है. गांव में प्रजा-समिति कायम हुई है. कांग्रेस कमेटी भी बनी है. जगन उसका अध्यक्ष है और हरेन सेक्रेटरी. हरेन ने कहा, "पहले से ही तय है, लौटने पर तुम इन दो में से एक के अध्यक्ष हो, जिसके भी चाहो. छिरू पाल अब गण्यमान्य व्यक्ति बन गया है. कमबख्त गांव का गुमाश्ता भी बन गया है. गांव का सत्यानाश कर दिया."

"गणेश पाल की जोत नीलाम हो गयी. उसे खरीदा श्रीहरि ने. गरीब तारिणी का घर भी श्रीहरि ने खरीद लिया, तारिणी की स्त्री सेटलमेंट के एक चपरासी के साथ भाग गयी. पातू मोची की देवोत्तर जमीन जाती रही. सेटलमेंट में ही वह जमीन जमींदार के खलिहान में चढ़ गयी. अनिरुद्ध की जमीन नीलाम पर चढ़ गयी है. अनिरुद्ध अब शराब पीकर भटकता चलता है. कभी-कभी दुर्गा के यहां भी जाता है. उसकी बीवी भी पागल हो गयी थी. अब कुछ अच्छी है. दुर्गा के सहारे ही दारोगा ने गांव में नजरबंद एक बाबू यतीन को रखने के लिए अनिरुद्ध का कमरा किराये पर लिया है. उसी किराये की आय से उसकी गिरस्ती चलती है."

यतीन ने देबू को अनिरुद्ध के बरामदे में बिछी चौकी पर बिठाया —"बैठिए. एक बात मैंने बहुतों से पूछी है. कोई जवाब नहीं दे सका."

"कौन-सी बात, कहिए?"

"आप लोगों का यह चंडीमंडप किसका है?"

"सर्वसाधारण का—सभी का."

"तो फिर प्रजासमिति की बैठक में जमींदार ने बाधा क्यों दी?"

देबू ने जरा सोचकर कहा, "प्रजा-समिति चूंकि जमींदार की विरोधी है, इसलिए."

"प्रजा समिति प्रजा के कल्याण के लिए है. प्रजा के कल्याण का मतलब जमींदार का विरोध नहीं होता. और चंडीमंडप तो जनता का ही बनाया हुआ है. जमींदार ने नहीं बनवाया. सिर्फ जगह जमींदार की है. जगह तो रास्ते की भी जमींदार की ही है. तो क्या प्रजा-समिति का जुलूस उस रास्ते से नहीं निकल सकता?"

देबू देर तक चुप रहकर बोला, "आखिर उपाय इसका क्या है, बताइए? श्रीहरि धनी आदमी है. आप कर क्या सकते हैं."

यतीन हंसकर बोला, "मुझे क्या करना. मेरे तो करने की बात भी नहीं है. करना आपको होगा देबू बाबू. नहीं तो इस उतावली से आखिर मैं आपका इंतजार क्यों कर रहा था?" देबू ने मन ही मन तय कर लिया था कि दस के झमेले में अब नहीं पड़ूंगा. जेल से यही संकल्प करके निकला था. लेकिन यह यतीन उसके सब संकल्प उलट-पलट देने को तैयार है.

खेती और घास—गांव के जीवन के दो भाग हैं. बैहार और घर—इन्हीं दो क्षेत्रों में यहां की जिंदगी का सारा आयोजन, सारी साधना. असाढ़ से भादों—गांव वालों के ये तीन महीने खेती के लिए खेतों में कटते हैं. क्वार से पूस तक फसल काटकर घर में ले जाते हैं और रबी लगाते हैं. खेतिहरों के घर जितना भी विवाह होता है, इसी समय होता है कि तभी अकाल में—चैत मास के बीचों-बीच अकाल—काल-बैशाखी आंधी से इस बंधे-बंधाये जीवन को एक धक्का लगा. गांव की औरतें आंधी से अस्त व्यस्त हुए घरों की सफाई में लगीं. बच्चों की जमात तड़के ही आम के बगीचे की ओर दौड़ पड़ी टिकोले चुनने. यही उनका बराबर का हाल है. उड़ने या जल जाने से इन्हें घर की फिकर नहीं होती. जल जाने पर तो फिर भी बांस-लकड़ी की चिंता होती है, लेकिन उड़ने की परवा भी नहीं करते. बैहार में घास खलिहान-वाले पोखरे के बांध पर या सरकारी छौनी कर लेते हैं. मयूराक्षी का बांध जमींदार की जायदाद है. वहां के ताड़ भी जमींदार के हैं. उन पेड़ों से पत्ते काटने के कसूर में भूपाल सब को चंडीमंडप पकड़कर लाया. श्रीहरि गंभीर होकर गड़गड़े में दम लगा रहे थे. एक ओर देबू चुपचाप बैठा था.

पातू जो बहुत दिनों से मन ही मन श्रीहरि के खिलाफ विरोध पाल रहा था, जरा गरम होकर बोला, "पत्ता सदा से काटा जा रहा है. आज कोई नयी बात नहीं है."

"सदा अन्याय करते आये थे, इसलिए आज भी जबर्दस्त अन्याय करोगे? जो काटते हो, चुराकर काटते हो?"

देबू ने इतनी देर के बाद कहा, "इसे चोरी नहीं कहा जा सकता है श्रीहरि. पहले जमींदार एतराज नहीं करता था, वे लोग काटते थे. अब तुम गुमाश्ता बनकर एतराज करते हो, खैर आइंदा से नहीं काटेंगे."

घोषाल ने कहा, "नो. नेवर. तुम यह गलत कह रहे हो देबू, गाछ का पत्ता काटने का हक इन्हें है. तीन पुश्त से काटते आ रहे हैं. तीन साल तक घाट-बाट में चलने के बाद कोई घाट-बाट बंद कर सकता है?"

हंसकर श्रीहरि बोला, "वह पेड़ है घोषाल, तालाब नहीं है, और न रास्ता ही है. कल को अगर जमींदार उन पेड़ों को बेच दे या कि काट ले तो पत्ता काटने का अधिकार कहां रहेगा."

देबू ने कहा, "तो फिर वही करो श्रीहरि. पेड़ों को कटवा डालो."

श्रीहरि हंसा, "तुम नाहक ही नाराज हो रहे हो, चाचा! वह तो मैंने बातों के सिलसिले में कानून की बात कही. जमींदार ऐसा क्यों करने लगे? लेकिन रैयत अगर जमींदार का विरोध करे, तो जमींदार को कानून के हिसाब से चलने में दोष क्या है?"

"लेकिन इन गरीबों ने क्या विरोध किया, सुनूं मैं? एकाएक इन्हें यों पकड़वा मंगाने का मतलब?"

"उन्हीं से पूछो. प्रजा-समिति के सेक्रेटरी से पूछो." उसके बाद हरिजनों की ओर ताककर श्रीहरि ने कहा, "क्यों रे, चंडीमंडप की छौनी का तुम लोग पैसा नहीं लोगे?"

इतनी देर के बाद बात साफ हुई. सभी सन्न रह गये. लेकिन भीतर से सबने एक जलन महसूस की. यह जलन सबसे ज्यादा महसूस की देबू ने. उसने श्रीहरि से कहा, "अच्छा श्रीहरि, तुम अब करना क्या चाहते हो?"

"मतलब?"

"मतलब कि चोरी के लिए इनका चालान करना चाहते हो, तो करो, और अगर ताड़ के पत्तों का दाम लेना चाहते हो, तो लो." देबू ने कहा, "कितने पत्ते हैं, गिन दे."

सबने पत्ते गिनने शुरू कर दिये.

पल भर में श्रीहरि भयंकर हो उठा. हिंसक की नाईं गरजकर कह उठा, "बैठो. रख दो पत्ते." उसके अचानक ऐसे क्रोधित स्वर की प्रचंडता से सब चौंक उठे. देबू भी चौंक उठा था, वह अपने को संभालकर तुरंत उठ खड़ा हुआ. बाउरी और मोचियों की ओर बढ़कर उसने दृढ़ स्वर में कहा, "छोड़ दो पत्ते. उठ जाओ वहां से."

सबने उसकी शकल देखी. उसके दुबले चेहरे पर अजीब दीप्ति थी. वे उसी दम चंडीमंडप से उतरने लगे. श्रीहरि ने डपटकर कहा, "भूपाल, इन कमबख्तों को रोको."

देबू उसकी ओर देखकर धीरे-से हंसा और पातू वगैरह से बोला, "जिसे जहां जाना है, चला जाये. मेरे बदन पर हाथ लगाये बिना कोई तुम सबको छू भी नहीं सकता."

"भूपाल!" श्रीहरि ने कहा, "तू जरा कंकना जा. बनर्जी बाबू के बूढ़े चपरासी नादिर शेख के पास जाना. जाकर कहना, अपने बेटे कालू शेख को घोष के पास भेज दो. घोष बाबू उसे रखेंगे."

नादिर शेख अपने जमाने का नामी लठैत था. कालू उसका लायक लड़का है. जवान, बलवान, चालाक, दुर्दम, साहसी.

देबू कुछ देर माटी पर नजर गड़ाये खड़ा रहा. उसे कई दिनों से जो आशंका थी, वह प्रहार आज पड़ गया. इसकी सारी जिम्मेदारी उस पर है. इस बात को वह कभी एक पल के लिए भी अस्वीकार नहीं कर सका. सो इस बात के आते ही बेकसूर गरीबों को बचाने के लिए वह सजग होकर सोचने लगा.

ये गरीब पैसे भी कहां से लायेंगे? ताराचरण बता गया, फी जानवर एक आना ज्यादा लगेगा—यानी ढाई-तीन रुपये ज्यादा. इसका मतलब कि जानवर चालीस-पचास के करीब होंगे. उसने मन ही मन हिसाब लगाकर देखा, दस-पंद्रह रुपये भरने होंगे. ये रुपये कहां से लायेंगे वे. कुछ क्षण के बाद उसने अपना सिर ऊंचा किया. आवाज दी—"बिलू!"

बिलू ने पूछा, "क्या कह रहे हो?"

"ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे बंधक रखकर पंद्रह रुपये तक मिल सकें?"

कुछ क्षण सोचकर बिलू ने शायद मन ही मन अपने सारे भंडार की तलाशी ली.

उसके बाद वह अंदर गयी और एक जोड़ा पतली बालियां लिये बाहर निकली. देबू दो कदम पीछे हट गया—"मुन्ने की बालियां?"

"हां."

जानवरों को अड़गड़े से छुड़ाकर शाम को लौटा. उस समय यतीन के पास एक खासी मजलिस जमा थी. प्राय: सब ने एक ही साथ पूछा, "क्या हुआ?"

"जानवर छुड़ा लिये गये." देबू तृप्ति से हंसी हंसा.

"कितने लगे?"

देबू ने इस बात का जवाब नहीं दिया. कहा, "यतीन बाबू, आप से एक बात कहनी है."

यतीन देबू को लेकर अंदर चला गया. देबू ने धीमे पर दृढ़ता के साथ कहा, "प्रजा-समिति का भार मैं लूंगा."

हरेन घोषाल का जोश—वह एक अजीब चीज है. उसने गांव की गली-गली में ऐलान कर दिया, प्रजा-समिति की बैठक है. जगह बताना वह भूल गया. तय था कि बैठक बाउरी-टोले के धर्मराजस्थान में होगी. लेकिन चूंकि घोषाल जगह बताना भूल गया, इसलिए लोग-बाग नजरबंद बाबू के घर के सामने आ जुटे. जानवरों को अड़गड़े में चालान करने वाली बात से सभी खासे उत्तेजित हो उठे थे. उन लोगों ने जब सुना कि देबू गुरुजी समिति के अगुआ होंगे तो वे एहसानमंद से आये. गुरुजी ने आज उन लोगों के लिए जो किया है, इसकी कल्पना वे सपने में भी नहीं कर सकते थे. उनके टोले में आज घर-घर गुरुजी की चर्चा थी. यहां तक कि दुर्गा की मां भी खुले दिल से आशीर्वाद दे रही थी. सांझ को अपने घर तकिये पर छाती टिकाये खिड़की से बाहर की तरफ ताकती हुई दुर्गा भी यही सोच रही थी कि—गुरुजी सोने के आदमी हैं. तभी दुर्गा ने देखा कि एक रोशनी उसी के गांव की तरफ आ रही है. "अरे!" चौंक पड़ी. यह तो हाथ में रोशनी लिये भूपाल चौकीदार है. उसके पीछे जमादार और जमादार के पीछे वह सिपाही. ये जरूर छिरू पाल के यहां जा रहे हैं. अचानक उसे नजरबंद बाबू की याद आ गयी, गुरुजी की याद आ गयी. पता नहीं, क्यों, लेकिन याद उन दोनों की आयी. वह उतरी और राह पर निकली. अंधेरे की ओट ले दुर्गा ने झाड़ियों की राह उन सबका पीछा किया. श्रीहरी के घर के हर गुप्त रास्ते का उसे पता है—जाने कितनी रातों में वह वहां जा चुकी है. उसने कलाई की चूड़ियों को ऊपर खींच लिया. और श्रीहरि के घर के पिछवाड़े जाकर चुपचाप खड़ी हो गयी. भीतर की बातें साफ सुनाई दे रही थीं. उसने कान लगाया. जमादार कह रहा था, "बेदाग दो साल ठोंक दूंगा."

श्रीहरि ने कहा, "तो फिर चलिए. कमेटी की बैठक जोरों से जमी है."

दुर्गा सिहर उठी. चुपचाप तेज चाल से वह घर के पिछवाड़े के रास्ते पर आ गयी. और कुछ क्षण सोचती रही.

प्रजा समिति सभापति का चुनाव हो चुका था. अनिरुद्ध चाय चला रहा था. अचानक एक छाया मूर्ति को जल्दी से अनिरुद्ध के पिछवाड़े की ओर जाते देखकर सभी चौंक उठे. अनिरुद्ध तेजी से घर के अंदर गया—"कौन है?"

"दुर्गा."—दुर्गा का कंठस्वर. दुर्गा ने बड़े संक्षेप में श्रीहरि के घर जमादार के आने का समाचार दिया और जैसे आयी थी वैसे ही तेजी से गहनों की रुनझुन बजाती हुई गायब होने वाले रहस्य की तरह देखते ही देखते ओझल हो गयी.

अनिरुद्ध के बरामदे के तख्त पर यतीन अकेला बैठा था, उसने जमादार की अगवानी की, "इतनी रात को किधर छोटे दारोगा साहब?"

जमादार जरा देर चुप रहकर बोला, "गया था एक गांव में. लौटते वक्त सोचा जरा आपकी मजलिस भी देखता चलूं. मगर कहां, यहां तो कोई नहीं है."

यतीन ने कहा, "आप आये हैं, घोष बाबू आये हैं, बैठ जायें तो हो गयी मजलिस."

रात के अंतिम पहर में सोया था. इसलिए यतीन की नींद टूटने में देर हुई. पद्म ने उसे जगाया.—"उठो, जाओ."

यतीन उठ बैठा. "काफी दिन निकल आया है न?"

"और उधर सर्वनाश जो हो गया, लठैत ले जाकर, छिरू पाल काट रहा है. सब लोग दौड़ गये हैं."

"कौन गये हैं दौड़कर? अनिरुद्ध बाबू?"

"सभी गये हैं—गुरुजी, जगन डाक्टर, घोषाल—बहुत से लोग."

तभी नलिन ने आकर सूचना दी, "गुरुजी का सिर फट गया."

यतीन तार लिखने बैठा. एक डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के पास, दूसरा एस.डी.ओ. के पास. साथ ही यहां की जिला-कांग्रेस कमेटी के पास एक चिट्ठी. यह चिट्ठी छिपाकर भेजनी होगी.

पुलिस की जांच हुई.

श्रीहरि ने कुछ भी अस्वीकार नहीं किया. श्रीहरि की ओर से जो भी कहना था वह सब दास जी ने कहा. और चूंकि यह काम उसने जमींदार के गुमाश्ते की हैसियत से किया, इसलिए जिम्मेदारी जमींदार पर ही आ पड़ी.

जांच-पड़ताल के समय दासजी ने झुककर सब स्वीकार कर लिया—"जी हां, पेड़ काटने का हुक्म हमने जमींदार की ओर से दिया है. श्रीहरि घोष ने हमारे गुमाश्ता के नाते ही पेड़ काटने के लिए लोगों को लगाया था. बैसाख के महीने में हम हिंदू लोग पेड़ नहीं काटते, इसीलिए चैत में काटना पड़ता है. साल-भर की लकड़ी उसी समय काटकर रखी जाती है."

जगन ने कहा, "सो काटें वे, अपना गाछ काटें."

बीच में ही टोककर दासजी बोले, "अपना ही तो है. वह सारा ही पेड़ तो जमींदार का है. आप जमींदार के ही पेड़ का ताड़ लेते हैं. पत्ते तोड़ते हैं. सेमल की रुई लेते हैं आप लोग."

आज पड़ताल में दारोगा खुद आये थे. दारोगा आदमी भला है, अपनी क्षमता का दुरुपयोग नहीं करता; भद्र भी है. उसने कहा, "कहने को जो कहें दास जी, काम यह अच्छा नहीं हुआ है. आदमी के मन को चोट नहीं पहुंचनी चाहिए. इतना ही है कि कानून आपके पक्ष में है. खैर, इसमें हमारे करने का कुछ नहीं है. यह हकूक का मामला है. हमने नोटिस दे दी है. जबानी भी दोनों पक्षों को मना कर रहे हैं. कि अदालत से फैसला हो जाने तक कोई पक्ष पेड़ के पास न जाये. गये तो फौजदारी होगी और हम गिरफ्तारी करेंगे."

दारोगा को विदा करके श्रीहरि दासजी को अपने बैठक में ले गया. चौकी पर की दरी को झाड़कर श्रीहरि ने कहा, "बैठिए."

दास बैठ गया, बोला, "जमींदारी खरीदोगे श्रीहरि?"

"जमींदारी?"—श्रीहरि चौंक उठा. जमींदारी की कल्पना उसने कभी नहीं की. उसने पूछा, "कौन-सा मौजा? पास-पड़ौस में है?"

"खास शिवकालीपुर. खरीदोगे?"

अजीब संदेह की निगाह से श्रीहरि ने दासजी की ओर ताका. शिवकालीपुर. गांव का एक-एक आदमी उसका रैयत होगा. श्रीहरि सबका मालिक होगा. "हुजूर, सरकार." क्षण भर में उसका अधीर मन तरह-तरह की कल्पनाओं से भर चंचल हो उठा.

दास जी ने कहा, "खरीद लो घोष. तुम्हारे पास पैसा है. जमींदरी अक्षय संपत्ति होती है. फिर एक बात यह भी है कि आज गांव के लोग तुम्हारे दुश्मन हैं, एक ही दिन में पैरों पर आ गिरेंगे."

देबू घोष के अधकटे पेड़ को रात ही कोई काट ले गया. चूंकि शांति भंग नहीं हुई, इसलिए कानून के खिलाफ भी नहीं हुआ.

गांव के रास्ते पर पैर रखते ही यतीन को फिर हंगामे की खबर मिली. कितने दिनों से हंगामों के मारे गांव की धीमी जीवन यात्रा का जैसे ताल भंग हो गया है. आज जाने किसने या किन्होंने श्रीहरि के बगीचे के पेड़ काटकर तहस-नहस कर दिया है.

दारोगा यतीन के यहां जाकर बैठा.

गांव के लोग सिर झुकाए चारों ओर बैठे थे. सभी हैरान हो सोच रहे थे—"यह काम किया किसने?" काम किया था अनिरुद्ध ने. उसने छिरू पाल से अपने पेड़ काटने का बदला चुकाया था. लेकिन जब दारोगा ने देबू गुरुजी को गिरफ्तार किया तो वह चौंक उठा. उसे बड़ी ठेस-सी लगी—यह क्या हुआ? गुरुजी को गिरफ्तार किया? देबू को? अभी-अभी तो वह जेल से वापस आया है. बिना कसूर उसको फिर पकड़ लिया? वह अधीर हो उठा. सोचते-सोचते वह अपने को और नहीं रोक सका. एक विचित्र आवेग के अतिरेक से उसने लमहे-भर में दारोगा के सामने हाथ फैलाकर कहा, "दुबे पंडित के बदले मुझे पकड़ो. उन्होंने पेड़ नहीं काटा, मैंने काटा." क्षण भर को सारी जनता निर्वाक हो गयी. चारों ओर सन्नाटा छा गया. उस स्तब्धता को भंग किया सबसे पहले देबू ने. कांपती-सी आवाज में बोला, "अन्नी भाई, तुम फिकर मत करो. मैं जान देकर तुम्हें छुड़ाने की कोशिश करूंगा."

शुभ नव वर्ष. बूढ़े लोग कांप उठे. बड़ा ही अशुभ प्रारंभ है. मौत रुद्र के रूप में आयी है. महामारी लेकर. पिछली रात के अंतिम पहर से मोची टोले में तीन आदमी इसके शिकार हुए, बाउरी टोले में दो जने. उपेन मर गया. श्रीहरि गंभीर होकर सोच रहा था.

महामारी हैजा मनुष्य के शरीर का सारा रस देखते ही देखते सोख लेती है और जीवनी शक्ति को खत्म कर देती है. वह महामरी आयी और देबू के मन के सारे रस, सारी कोमलता को चूसकर, उसे पत्थर बनाकर उसके घर से चली गयी. एक मुन्ना ही नहीं—मुन्ना और बिलू दोनों हैजे के शिकार हो गये. पहले दिन मुन्ना, दूसरे दिन बिलू. छाती फैलाकर यह भयानक चोट वह सह गया. कोई दो महीने बाद, महामारी रुक चुकी थी.

इलाके के प्रत्येक गांव के जमींदार सर्वे के बाद अनाज की कीमत बढ़ जाने के बहाने लगान बढ़ाने की तैयारी कर रहे हैं. प्रजा लगान बढ़ने देना नहीं चाहती. गांव-गांव में प्रजा सोच-विचार कर रही है. ताज्जुब है कि उसकी हर लहर आकर देबू को चोट करती है. देबू सोच रहा है. इतने में दौड़ता हुआ फतिगा आया. बोला, "नजरबंद बाबू बुला रहे हैं."

यतीन ने अनिरुद्ध की बात कही : "दो महीने तो बीत गये देबू बाबू. अब तक तो उन्हें लौट आना चाहिए था." कुछ देर की चुप्पी के बाद यतीन ने फिर कहा, "मैंने सुना है, श्रीहरि घोष ने दरख्वास्त की है कि गांव में हड़ताल की तैयार हो रही है और उसमें मेरा हाथ है. मुझे यहां से हटाने की चेष्टा कर रहे हैं. और मुझे लगता है कि मुझको हटना भी पड़ेगा. लेकिन स्नेह-पागल उस औरत की सोचकर तो मैं व्याकुल हो रहा हूं."

सोचकर देबू ने कहा, "बिना जेल-आफिस गये तो अनिरुद्ध का ठीक-ठीक पता नहीं चलेगा. मैं, न होगा तो, कल सदर जाकर पता लगा आऊंगा."

देबू सदर जो गया, तीसरे दिन लौटा. अनिरुद्ध का कोई पता न चला. जेल से वह दस दिन पहले ही निकला.

पद्म ने पूछा, "वह क्या जेल से निकल कहीं चला गया है?"

"हां."

पद्म ने और कुछ नहीं पूछा, लौट गयी.

पिछली रात से नयी बरसात की बारिश शुरू हो गयी थी. उसी बारिश में यतीन घर से बाहर रास्ते पर उतरा. उसके साथ दारोगा जी थे. दो-चार चौकीदारों के सिर पर उसका अस्सबाब-पत्तर था. देबू, जगन, हरेन गांव के सभी लोग उस बारिश में खड़े थे. यतीन का अनुमान सत्य निकला. उसको यहां से जाने का आदेश आ गया.

खंड : दो : पंचग्राम

जाने किस भूले अतीत में किसी ने मौलकिनी नाम का यह तालाब खुदवाया था. विशाल तालाब. बहुत दिनों से ही रात में वहां 'जमाट बस्ती' की मशाल जल उठती. जमाट-बस्ती की और भी कई जगहें हैं. लेकिन आज की रोशनी मौलकिनी के बरगद के नीचे ही जल रही है. शायद मल्ले हैं. मल्ला यानी बागदी. बंगाल में ये मल्ले बागदी शक्ति के लिए बड़े मशहूर हैं. डकैती कभी इनका नाज का पेशा थी. इन्हें देखकर गांव के दोनों सिरों पर नगाड़े बज उठे. आफत की इस घनी अंधेरी रात में डुग-डुग की आवाज दिशा-दिशा में फैल गयी. बेहार के अंधेरे में वह जलती मशाल एक बार झुकी और मानो सहसा माटी के अंदर छिप गयी.

देबू ने कहा, "तुम घोष बाबू को खबर कर दो, भूपाल, नाहक क्यों झमेले में पड़ोगे."

तभी पीछे से किसी का गंभीर गला सुनाई दिया, "भूपाल." भूपाल चौंक उठा. श्रीहरि करीब आया. हाथ जोड़कर भूपाल ने कहा, "हुजूर."

"मुझे खबर क्यों नहीं दी तूने?"

देबू ने कहा, "खबर भेजी ही जा रही थी कि तुम आ गये."

बंदूक में कारतूस भरकर आसमान की ओर लगातार आवाज कर दी श्रीहरि ने. गोली की तीखी और ऊंची आवाज ने अंधेरे को जैसे चीर-फाड़ डाला.

चैंबर से छोड़ी हुई कारतूसों को निकालकर श्रीहरि ने कहा, "देबू चाचा, यह सब तुम लोगों के विरोध के नारे का नतीजा है."

देबू भौचक्का रह गया. हैरान-सा बोला, "विरोध के नारे का नतीजा?"

"हां, देखुड़िया के तिनकौड़ी की कारस्तानी है. वह तुम लोगों का एक पंडा है. मल्लों की जमात कुछ दिन पहले ही टूट चुकी थी. उसी ने फिर से जोड़ी है."

पिछली रात की उस घटना के बाद श्रीहरि घोष ने बाकी रात जागकर बिता दी. जमाट-बस्ती देखकर वह सोच में पड़ गया. उसे लग रहा था कि पंचाम के सारे लोग षड्यंत्र रचकर उसे घेर लेना चाहते हैं. वे सब उसे पीसकर मार डालना चाहते हैं.

सवेरे ही वह जंक्शन रवाना हुआ. थाने में बीती रात की जमाट-बस्ती की डायरी लिखा देनी थी. टप्पर लगाकर बैलगाड़ी तैयार की गयी.

आजकल वह जंक्शन तक पैदल शायद ही आता-जाता है. गाड़ी के साथ चला कालू शेख. श्रीहरि सोचने लगा कि डायरी में किस-किस का नाम लिखाये. तिनकौड़ी का नाम तो देना ही पड़ेगा. मल्लों में राम मल्ला है नेता. दूसरे मल्लों का नाम छानबीन के बाद पुलिस खुद निकालेगी. और किसका नाम? रहम शेख का? रैयतों के विरोध आंदोलन में मुसलमानों में उसी आदमी को सबसे ज्यादा उत्साह है. तिनकौड़ी, रहम और. . . ?

■ ताराशंकर बंद्योपाध्याय

शरद, रवींद्र और बंकिम के बाद बंगला साहित्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाकार ताराशंकर बंद्योपाध्याय को सन् 1966 में ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया था. यह पुरस्कार लेने वाले वह दूसरे लेखक थे.

घनीभूत पीड़ा का प्रस्फुटन

■विभूतिभूषण मुखोपाध्याय

ताराशंकर की लेखनी का मूलसूत्र है—अतीत और वर्तमान : क्या था और क्या हो गया. और इस नियम में भी लेखक का मन पूर्ण निरासक्त है. बात यह है कि प्रगति और आधुनिकता के नाम पर जो हो रहा है, वह सभी स्वागतयोग्य नहीं और प्राचीन जो सब था उसे भी सारा का सारा वांछनीय नहीं माना जा सकता. ताराबाबू एक मुक्त दृष्टि लेकर अतीत और वर्तमान की भूमि पर खड़े भविष्यत् के कल्याण के अन्वेषी हैं.

अवश्य यह कहना अन्याय होगा कि ताराशंकर का सृजन इतनी ही परिधि में आबद्ध है. उनका सृजन वस्तुतः बहुमुखी वैचित्र्य-संपन्न है. तो भी मूलतः वह युगांतर के ही कथाकार हैं. दो युगों के संघात की कथा-रचना में उनकी लेखनी जितनी मर्मस्पर्शी हो उठती है उतनी और कहीं नहीं और यह उनका विलास नहीं है, उनके अंतर की घनीभूत पीड़ा का प्रस्फुटन और रूपांतर मात्र है. □

लगभग घंटे भर बाद श्रीहरि थाने के दफ्तर से बाहर निकला. उसने पिछली रात की जमाट-बस्ती की डायरी करायी. साथ ही जिन पर उसे संदेह था उनका नाम भी लिखाया. राम मल्ला, तिनकौड़ी मंडल, रहम शेख के नाम तो बताये ही, ऊपर से देबू घोष का भी नाम बता दिया.

इरशाद के यहां बैठक हो रही थी. सारे मुसलमान खेतिहर मौजूद थे. सबके घर का धान चुक गया था. रहम ने कहा, "जंक्शन के कारखाने वाले कलकत्ते के बाबू ने कहा है कि रुपया मैं दे सकता हूं. लेकिन मेरे साथ पक्की लिखा-पढ़ी करनी होगी कि जो मुझसे रुपया लेंगे, उन्हें मेरे बराबर धान सबसे पहले अदा करना होगा."

"दर?"

"यह सब, चाचा, तुम्हारे गये बिना तय नहीं होगा. पांच आदमी के साथ एक दिन सांझ को चलो."

कुछ ही देर में कानाफूसी शुरू हो गयी. तिनकौड़ी ने सुन लिया. वह तुरंत उठ पड़ा. यह खबर पाकर खुशी-खुशी घर लौटा.

अब की वर्षा शुक्ल पक्ष में उतरी. दशमी को आसमान बादलों से घिरा बूंदा-बांदी भी हो रही है. धान के आसार अच्छे हैं. देबू ने उसांस ली. इस बार ऐसी वर्षा है, मगर खेतों की गूंज नहीं. ऐसी वर्षा के बावजूद हर किसान का काम एक बेला बंद रहता है. उसके घर में धान नहीं है. देबू ने एक लंबा निःश्वास फेंका. उपाय तो कुछ न कुछ करना ही पड़ेगा.

इतने में घने अंधेरे में खूब ताकतवर कोई आदमी पैरों की जोरों से आवाज करता हुआ करीब के मोड़ से मुड़कर देबू के दरवाजे के सामने आ खड़ा हुआ. तिनकौड़ी को पहचानने में देबू को देर न लगी. व्यस्त होकर बोला, "तिनू चाचा. आओ, आओ."

तिनकौड़ी ने कहा, "तुम्हारे पास किसलिए आया हूं सो सुनो."

"कहो."

"कुसुमपुर के मुसलमानों के धान की जुगत कर ली है. धान नहीं, रुपया. रुपये कर्ज लेकर धान लाये हैं. आज खेतों में शेखों का एक भी हल नहीं उतरा."

देबू अचंभे में आ गया. तिनकौड़ी ने कहा, "जंक्शन के कारखाने-वाले ने रुपया दिया, गद्दीवाले से धान खरीदा. कारखानेवाला चावल भी देने को तैयार है."

"जोड़कर देखा है आपने कि क्या कर्ज सिर पर लदता है?" देबू ने कहा.

"मगर उसके सिवाय उपाय भी क्या है, कहो?"

"आज तो मैं कुछ कह नहीं पाऊंगा, चाचा. कल जरा न्यायरत्न जी के यहां जाऊंगा. फिर जैसा होगा, बताऊंगा."

रहम ने तिनकौड़ी से उस दिन ताड़ का एक पेड़ बेचने का जिक्र किया था. इदुल-फितर सिर पर था और सावन-भादों का अभाव ऊपर से. परेशान होकर वह धान या रुपया कर्ज लेने के फिराक में इधर-उधर चक्कर काट रहा था. तभी उसे खबर मिली कि जंक्शन शहर में कलकत्ते के कारखानेवाले के कारखाने में एक नया शेड बनेगा. शेड के लिए अच्छा पका हुआ ताड़ का पेड़ चाहिए. वह पेड़ उसे बड़ा प्यारा था. उसके दादा ने लगाया था. इसे बेचने की कभी कल्पना भी न की रहम ने. लेकिन कीमत भी लुभावनी थी. इसीलिए वह कारखानेवाले के पास गया था. कारखानेवाले ने पेड़ की जानकारी पहले ही हासिल कर ली थी और उसने अपने हिसाब से एक ही बात कह दी, "उसे बेचो तो मैं तीस रुपये दूंगा."

रहम राजी हो गया. लेकिन एक बात का रहम को कयास न रहा और असल बात वही थी. बात थी पेड़ की मिल्कियत की. तीन पुश्त में मिल्कियत में हेर-फेर हो गया, इसका उसे कयास भी न था. उसके दादा ने जमींदार से परती बंदोबस्त लेकर अपने हाथ से खेत तैयार किया था. लेकिन उसका बाप अपने अंतिम दिनों में कर्ज के कारण कंकना के मुखर्जी बाबू को वह जमीन बेच गया था.

मिलवाला पेड़ को काटकर उठा ले गया, उसके बाद आज सबेरे रहम के यहां चपरासी आ पहुंचा—"बाबू बुलाते हैं फौरन चलो."

रहम मातब्बर किसान ठहरा, तिस पर गंवार, उखड़ गया, "मैं क्या तेरे बाबू का खरीदा हुआ गुलाम हूं?"

चपरासी ने रहम का हाथ धर दबाया. दबाना था कि जोरावर रहम ने चपरासी के गाल पर जोरों का एक तमाचा जड़ दिया, "यह हिमाकत, मेरे बदन पर हाथ."

वह जमींदार का चपरासी था, इंद्र के ऐरावत-सा घमंड, वैसे ही झूमते हुए चला करता था. इलाके में कोई उसे इस तरह से तमाचा भी लगा सकता है, यह वह सोच भी नहीं सकता था. जाकर जमींदार के पैरों पर लोट गया. बोला, "अब यह नौकरी मुझसे नहीं चलेगी, हुजूर माफ कीजिए."

सुनकर बाबू आग-बबूला हो उठे. फौरन पांच-पांच लठैत भेजे गये. वे लठैत रहम को खेत से ही पकड़ ले गये.

लोगों की जबान से खबर चारों तरफ फैल गयी. पचास-साठ किसान एक साथ उछल पड़े. वे जमात बनाकर चल पड़े, रहम को छुड़ाकर लायेंगे. पूरी जमात कचहरी के प्रांगण में पहुंची. बरामदे की सीढ़ी के पास जाकर चुपचाप खड़ी हो गयी. जमींदार ने गंभीर स्वर में ललकारा, "कौन? कहां के हो तुम लोग? क्या चाहते हो?"

इरशाद चीख उठा, "खबरदार."

उसके साथ-साथ सारी जमात चिल्ला पड़ी. दूसरा क्षण एक अजीब सन्नाटे का क्षण. उस सन्नाटे को तोड़ते हुए पहले जमींदार ने बात की. पहले वे भौचक्के से रह गये थे. रैयत, गरीब लोग—ये अचानक ऐसे कैसे हो उठे. दूसरे ही क्षण लोगों की तरफ घूमकर बोले, "तुम लोग दंगा करने की कोशिश करोगे तो मैं गोली चलाऊंगा."

मारो-मारो का शोर उठ ही रहा था कि पीछे से एक तेज और ऊंची आवाज में सुनाई पड़ा, "नहीं भाइयो, हम दंगा करने के लिए नहीं आये हैं हम अपने रहम चाचा को छुड़ा ले जाने के लिए आये हैं. आओ रहम चाचा, उठकर चले आओ."

सबने देखा, नीचे की भीड़ को पार करता हुआ देबू घोष सीढ़ियों पर चढ़ रहा है. चपरासियों ने जमींदार की ओर देखा. उन्हें उम्मीद थी कोई कड़ा हुक्म मिलेगा. लेकिन बाबू ने सिर्फ इतना ही कहा, "रहम ने चोरी से मेरा ताड़ का पेड़ बेच दिया है. मैं उसे थाने भिजवाऊंगा."

देबू ने कहा, "आप थाने में खबर भेज दीजिए, ले जाना होगा तो दारोगा पकड़कर ले जायेगा. थाने को खबर भेजे बिना अपने चपरासी से गिरफ्तार कराने का अधिकार आपको नहीं है."

रहम खड़ा था. उसका हाथ पकड़कर देबू बरामदे से उतरने लगा. इरशाद उनके साथ हो लिया. देबू ने जनता से कहा, "चलो भाइयो, लौट चलो."

तभी कंकना के एक और जमींदार के नायब ने आकर कहा, "बाबू ने कहा है, थाने में डायरी कराना न भूलिए.डायरी इस तरह से कराओ कि चपरासी लोग गले में गमछा लगाकर खेत से खींच लाये, कचहरी में मारा-पीटा और खंभे से बांध रखा. जब तुम सब वहां पहुंचे तो गोली छोड़ी. खुशकिस्मती से गोली किसी को लगी नहीं."

कई दिन बाद, डायरी और टेलीग्राम दोनों करा दिये गये. साथ ही चारों तरफ—क्या हिंदू क्या मुसलमान—सभी रैयत खूब उत्तेजित हो उठी. लगान बढ़ाने के विरोध में किये जानेवाले आंदोलन की तैयारी इस आकस्मिक घटना से आपसे आप बड़ी जोरदार हो गयी. इस उत्तेजित-जीवन प्रवाह के बहाव से देबू एकाएक मानो एक किनारे जा रहा. इन्हीं कई दिनों में उसे और पद्म को लेकर बस्ती में तरह-तरह की आलोचनाएं शुरू हो गयी थीं. आज तिनकौड़ी आकर कह गया, "लोग क्या कह रहे हैं, मालूम है भैया?"

देबू तो भी हंसकर ही बोला, "लोग कहते हैं तो मैं उसका क्या करूं" खबर और भी विस्तार से ताचारण नाई से मिली. बयान करने के बाद उसने सिर खुजलाकर कहा, "कुसुमपुर के शेखोंवाले मामले में आपके बारे में ये बातें किसने उड़ायी हैं, मालूम है? खुद उन्हीं बाबुओं ने. बाबुओं के नायब ने खुद इरशाद से कहा है. कहा कि कचहरी पहुंचते ही देबू ने आंख दबाकर बाबू को इशारा कर दिया था कि यह हंगामा आगे नहीं बढ़ेगा. मैं ठीक किये देता हूं. बाबू ने भी इशारे से देबू को पंजा दिखाया. यानी, हां, ठीक कर दो. पांच सौ रुपये दूंगा."

देबू हैरान रह गया. बाबू के नायब ने ऐसा कहा. देबू अवाक चाहे हो, बात सच थी.

कंकना के मुखर्जी बाबू ने दौलत शेख को बुलवाया था. शेख धनी है. आज के समाज में धनी-धनी में लौकिकता का एक नाता होता है. उसी से मुखर्जी बाबुओं से श्रीहरि से या दूसरे जमींदार महाजनों से हाजी दौलत का सौहार्द है. दौलत, रहम और इरशाद को अच्छी निगाहों से नहीं देखता. कहा, "गलती आपसे थोड़ी-सी हो गयी है बाबू. उसने चोरी से पेड़ काट लिया—चोरी के इलजाम में नालिस ठोक देते."

बाबू ने कहा, "नालिश तो ठोकना ही है. अभी तुम्हें इसलिए बुलाया है कि तुम अपने गांव के मातब्बर हो. लोगों को यह समझा दो कि वे जो कर रहे हैं अच्छा नहीं कर रहे हैं. तुम गांव के एक जाने-माने आदमी हो; हम लोगों से तुम्हारा बहुत दिनों का अच्छा सरोकार है, इसीलिए तुमसे कहा. बाद में तुम मुझे दोष मत देना. रहम, इरशाद और उनके साथ और जो लोग हैं, मैं उन्हें यहां से उजाड़ दूंगा."—कहकर मुखर्जी बाबू उठकर चले गये. दौलत शेख से और बात तक नहीं की. दौलत शेख जरा देर बैठा, फिर उठ गया. इस अवहेलना से उसे बड़ी चोट लगी. बूढ़े घोड़े की पीठ पर सवार हो लौटते हुए बार-बार उसके जी में यही होने लगा कि वह भी रहम और इरशाद का साथ दे. बस्ती पहुंचकर दौलत शेख अवाक रह गया. बस्ती में लोगों की बेहिसाब भीड़ थी.

शिवकालीपुर, महाग्राम, देखुड़िया के हिंदू किसान इकट्ठे हुए हैं, गांव के मुसलमान, खेतिहर हैं, देबू घोष नहीं था. मुखर्जी बाबू ने यह चाल बेजा नहीं चली. उधर श्रीहरि ने भी अच्छी चाल खेली. यह छोकरा पस्त हो गया है.

इरशाद ने कहा, "क्यों चाचा, गरीबों से बात तक नहीं."

दौलत ने कहा, "मैं कहूं क्या इरशाद, कहते शर्म आती है."

जगन बोल उठा, "बाप रे, जब कहते शेखजी को शर्म आ रही है तो जाने क्या बात होगी."

दौलत ने कहा, "मैं तुमसे नहीं बोलता डाक्टर. मैं कह रहा हूं रहम से, इरशाद से, अपने जाति-भाइयों से. हम लोगों पर बहुत बड़ी आफत है. मैं क्या यों ही दौड़ा-दौड़ा आया. सुनो रहम, तुम भी सुनो इरशाद, आज मुखर्जी बाबू ने मुझसे कहा, 'दौलत, तुम अपने जाति भाइयों से कह देना, अगर वे इस हंगामे का सहज ही निबटारा नहीं कर लेते, तो मैं सारे कुसुम-पुर को जलाकर राख कर दूंगा.' बाबू ने कहा, 'कुसुमपुर में मैं हिंदुओं की बस्ती बसाऊंगा.' तब यही जगन डाक्टर यहां आकर घर बसायेगा. देबू घोष भी आयेगा. आया समझ में?"

तत्काल जैसे जादू-सा हो गया. संघबद्ध जनता अलग-अलग हो गयी.

अंधेरिया पाख. देबू अपने ओसारे की चौकी पर लालटेन जलाये बैठा रहता. चुपचाप सोचा करता. कुसुमपुर के लोगों ने उस पर घूस लेने की घिनौनी तोहमत लगायी थी. श्रीहरि ने उसके ऊपर पद्म और दुर्गा को लेकर वाहियात लांछन लगाया. उसका भी उसे कोई दुख, कोई शर्म, कोई गुस्सा नहीं. दुख इस बात का था कि इलाकेवालों ने धर्म की शपथ लेकर जिस घट को बैठाया था, उस घट को ही लोगों ने चूर-चूर कर दिया.

अपने ओसारे पर बैठा देखुड़िया का तिनकौड़ी सारे इलाके के लोगों को व्यंग्य भरी गालियां दिया करता. मन पर एक भार-सा था. रात बिस्तर पर लेटकर उसे नींद नहीं आयी. तमाम लोग बेखबर सो रहे हैं. उन लोगों ने पेट के लिए इज्जत की बलि दी और निश्चिंत हो गये थे. उनके लिए श्रीहरि घोष का गोला खुल गया है. लेकिन उसे कोई नहीं देने वाला. उसने इस बार शहर के कलवाले से रुपये लेकर धान खरीदा था. उस धान का थोड़ा-बहुत उसने मल्लों को दिया. धान और चाहिए.

कुसुमपुर के मुसलमानों को दौलत शेख से धान उधार मिल गया. दौलत का कर्ज जानमारू है. उससे कर्ज लेकर कलवाले को कर्ज चुकाया गया. कुछ ही वर्षों में इस कर्ज के चलते सारी जायदाद दौलत के कब्जे में चली जायेगी. महाग्राम के न्यायरत्न बैठकर सोचा करते. भरा-पूरा गांव महाग्राम धन-धान्य से भरा खुशहाल पंचग्राम —लेकिन न उत्सव, न समारोह. प्राणों की आवेगमयी धारा धीरे-धीरे छीजती चली जा रही है. संपदा गयी, लोगों का स्वास्थ्य गया, वर्णाश्रम समाज-व्यवस्था मिट चली, जातिगत कर्म जाता रहा—किसी ने खो दिया, किसी ने छोड़ दिया.

देबू बिस्तर पर लेटा सोच रहा था. सामने की खुली खिड़की से अचानक ऐसा लगा कोई खड़ा है. "कौन?" देबू उठ बैठा; चौंका, कोई स्त्री. एकाएक उसके जी में आया—क्या यह मेरी गुजरी हुई बिलू है? उसने पुकारा—"बिलू?"

वह मूरत जरा चंचल-सी हुई. देबू का शरीर रोमांचित हो उठा. कामना के अधीर आनंद से वह दरवाजा खोलकर ओसारे से रास्ते पर उतरा और व्यग्रता से हाथ बढ़ाकर उस मूरत के हाथ को पकड़ लिया. स्निग्ध और गरम स्पर्श—स्पर्श में बिजली का प्रवाह. कलाई में नब्ज धड़क रही है—कौन है यह? उसने हैरान होकर पूछा, "कौन?"

पद्म ने अपना घूंघट उतार दिया. पूरी नजर से देबू को देखकर उसने कहा, "मैं हूं." पद्म के स्वर में कोई संकोच नहीं था—उसके हृदय में कामना का प्रबल आवेग, स्नायुओं में आकुल उत्तेजना, नस-नस में दौड़ती रक्तधारा में बढ़ती हुई गरमी. उसने कहा, "मैं आ गयी मितवा, उस घर में मुझसे और रहा नहीं गया. मैं अब तुम्हारे यहां रहूंगी. दोनों मिलकर नया घर बसायेंगे. तुम्हारा मुन्ना फिर से मेरी गोद में लौट

आयेगा. लोग जो चाहे सो कहें. न होगा तो हम दोनों चले जायेंगे दूर कहीं . . .?" और वह हांफ उठी थी.

देबू वैसा ही काठ का मारा-सा खड़ा रह गया. फिर उसने एक लंबा निःश्वास फेंका. सचेतन होने की कोशिश की. उसके बाद कहा, "जोरों से बारिश आ रही है. घर जाओ लुहार बहू."

सुबह काफी देर से नींद टूटी. रात की बातें मन में घुमड़ने लगीं. अभागिन! छाता खोलकर वह बैहार की तरफ चल पड़ा. रास्ते का पानी क्रमशः बढ़ रहा था. देबू आगे बढ़ा. रास्ते में श्रीहरि मिल गया और मुस्कराकर बोला, "पद्म से तुम्हारा झगड़ा है क्या?"

देबू के दिमाग में आग लग गयी. फिर भी उसने अपने को जब्त करके कहा, "मतलब?"

"मतलब कि कल रात डेढ़ या दो बजे होंगे, मूसलाधार पानी पड़ रहा था. मेरी नींद टूटी गयी. खिड़की से छींटे आ रहे थे. मैं खिड़की बंद करने लगा. देखा, रास्ते पर कोई खड़ा है. देखा, लुहार बहू है. उसने मुझसे कहा—'आपके यहां तो दाई-नौकरानी कई हैं. मुझे भी कोई जगह देंगे अपने यहां? आप अगर अपने यहां नहीं रखेंगे तो मैं चली जाऊंगी. जिधर ये दो आंखें ले जायेंगी, चली जाऊंगी.' करता क्या चाचा. . ." कहकर श्रीहरि गर्व से हंसने लगा. मगर देबू को काठ मार गया.

पंचग्राम की दूर तक फैली बैहार पानी में डूब गयी थी. देबू बांध पर चढ़ गया. हवा से सरपत के जंगल में सर-सर सन्-सन् की आवाज हो रही थी. उस सन्-सन् आवाज के साथ ही एक और आवाज हो रही थी नदी की. देबू ने नदी की तरफ ताका. ओह., मयूराक्षी तो भयंकर हो उठी है. भीषण रूप धारण किया है. मयूराक्षी के लिए यह बाढ़ नयी नहीं है. देबू दरारें पड़े बांध की ओर देखकर सोच रहा था. बेरोक-बाढ़ से पंचग्राम बह जायेगा. उसने कहा, "तिनू चाचा, लोगों को जुटाना ही होगा. आप देखुड़िया और महाग्राम जाइए. मैं कुसुमपुर और शिवकालीपुर जाता हूं."

तिनू ने कहा, "रामा, तू अपना नगाड़ा लाकर पीट."

देबू दौड़ता हुआ कुसुमपुर गया. इरशाद अपने घर से बाहर निकल रहा था. बाजार का काम स्थगित करके इरशाद देबू के साथ निकल पड़ा. शिवकालीपुर से सतीश, पातू और उसके संगी-साथी निकले. किसान कोई नहीं आया. शायद चंडीमंडप में श्रीहरि की कोई बैठक थी. देखुड़िया के लोग पहले ही आ पहुंचे थे. कई एक आदमी महाग्राम से आये. कुल पचासेक आदमी. बांध के गड्ढे को काटकर वहां पर डाल के खूंटे गाड़ दिये. ताड़ के झमखोले बिछाकर उसी पर टोकरियों से झपाझप माटी डाली जा रही थी. देबू इरशाद, तिनकौड़ी तथा और भी कई जने उन खूंटों को संभाले खड़े थे, जो बाढ़ के स्रोत से टेढ़े हो रहे थे. जी-जान से लोग टोकरी-टोकरी मिट्टी डालते जा रहे थे. लेकिन बहाव में वह तुरत गल जाती थी और उधर बाढ़ का पानी बढ़ ही रहा था. तिनकौड़ी अब तक पत्थर की मूरत बना चुपचाप अपनी सारी ताकत लगाकर घेरे को संभाले हुए था. उसने देबू का हाथ पकड़कर कहा, "बगल से खिसक जाओ. नहीं रुकेगा, छोड़ दो. रामा छोड़ दे. बेकार है कोशिश. देबू, हट जाओ. नहीं तो पानी के वेग से मिट्टी में गड़ जाओगे. लो——गया, गया."

गया. बाढ़ के भीषण दबाव से बांध की दरार बढ़ी और वह हिस्सा जोरों की आवाज के साथ बैहार में गिर पड़ा.

कुसुमपुर में शोर मच गया—गांव के किनारे तक बाढ़ पहुंच गयी. शिवकालीपुर में भी बाढ़ घुस गयी. बाउरी और मोची-टोले में तो पानी पहले से ही जमा था— बाढ़ का पानी पहुंच जाने से लगभग कमर-भर पानी हो गया. दुर्गा की मां ने रोकर कहा, "अरी जमाई गुरुजी बह गया री. जमाई गुरुजी, बाढ़ की चपेट में आ गया?" दुर्गा बाहर निकल गयी. दिन की रोशनी ढलती जा रही थी. दुर्गा पानी चीरती हुई आगे बढ़ी. बाढ़ बढ़ती जा रही थी. गांव में बहुत जोर से शोरगुल मचा था. बहू-बेटे, गाय गोरू, सरो-सामान के लिए भले गृहस्थ लोग परेशान हो रहे थे. उन बाउरी डोम-मोचियों की तरह एक बोरे में सारी गिरस्ती भरकर निकल पड़ने का कोई उपाय नहीं था. इतनी ही देर में चंडीमंडप स्त्रियों से भर चुका था. बाढ़ के समय से सदा चंडीमंडप में ही आश्रय लेती है.

गांव से कोई आदमी तेजी से पानी काटता हुआ आ रहा था. दुर्गा ने मुंह फेरकर देखा. कुसुमपुर का रहम शेख. उसी ने पूछा, "अरी, देबू चाचा की कोई खबर मिली?" —शेख के स्वर में बड़ी घबराहट थी. इत्तिफाक से देबू से उसका दुराव हो गया है. रहम अभी जमींदार का आदमी है. अभी भी जमींदार की ही तरफ से काम करता है. दौलत से भी खूब पटरी बैठती है. देबू की चर्चा आने पर उसके खिलाफ ही बोलता है. लेकिन देबू की विपत्ति का समाचार सुनकर वह स्थिर नहीं रह सका. भागा-भागा आ रहा है. रहम के पूछते ही दुर्गा की आंखों से झर-झर आंसू झरने लगा. इतनी देर के बाद एक आदमी ने उसके जमाई गुरुजी की सुध तो ली. बाढ़ में डूबी हुई जमीन को बायें छोड़ते हुए महाग्राम के पास-पास कुछ लोग आ रहे थे. रहम ने वहीं से हांक लगा दी. थोड़ी देर में वे लोग आ पहुंचे.

रहम ने पूछा, "इरशाद, देबू चाचा मिला?"

लंबा निःश्वास छोड़कर इरशाद ने कहा, "मिला. पानी के वेग से गिर पड़ने के कारण माथे में चोट आयी है. होश नहीं है."

पद्म भाग गयी. पिछली रात, एक अस्वस्थ मानसिक स्थिति में प्यासा पागल जैसे कीच में कूद पड़ता है, वह वैसे ही श्रीहरि के दरवाजे के सामने गयी और उसी के घर में चली गयी. आज सुबह से उसके पछतावे की हद न थी. श्रीहरि के यहां रहने का मतलब समझकर वह सबेरे से छटपटा उठी थी. इधर सांझ हुई और उधर बाढ़ से विपन्न लोगों की भीड़ हुई. उसी मौके से वह निकलकर चली गयी.

मयूराक्षी की सर्वग्राही बाढ़ की भीषणता से इलाका तबाह हो गया. पंचग्राम की उस सुदूर प्रसारी बैहार में शस्य का कोई चिह्न नहीं रहा. श्रीहरि जरा हंसा—तृप्ति की हंसी वह जानता है. उसके ऊंची बुनियाद के घर को बाढ़ कोई नुकसान नहीं पहुंचा सकी. धान की बोरियां ज्यों की त्यों खड़ी उसके अंगने की शोभा बढ़ा रही थीं. उसने कल्पना की कि पांच-सात गांवों के लोग उसके खलिहान के उस फाटक पर भिखमंगे जैसे हाथ जोड़कर खड़े हैं. श्रीहरि बेरहम नहीं होगा. वह लोगों को धान देगा. अपनी मोरियां खाली करके देगा. कल्पना की आंखों से उसने देखा कि लोग धान कर्ज लेने के कागज पर सही बनाकर ले रहे हैं. और मुक्तकंठ से उसकी जय-जयकार करके लोगों ने और भी एक कागज लिख दिया, अदेखा—उसके एहसान का कागज.

मलेरिया इस बार महामारी का रूप लेकर आया. घर-घर बुखार. चारों ओर लोग बीमार पड़ रहे हैं. कौन किसके मुंह में पानी दे, ऐसी हालत. न्यायरत्नजी को अपने ही जीवन में यही शायद सबसे बड़ा आघात था. कई दिनों से वे विश्वनाथ की प्रतीक्षा में थे. जया को उसने एक पोस्टकार्ड में लिखा कि तुम लोगों के साथ वह यहां आयेगा. न्यायरत्न ने लिख भेजा था—'तुम लोग कितने जने आ रहे हो, लिखना. यह भी लिखना कि किसी के लिए कुछ खास व्यवस्था की जरूरत है या नहीं.' मगर विश्वनाथ ने उन्हें उस पत्र का जवाब नहीं दिया. कल शाम को देबू ने उन्हें सूचित किया था कि रात को डेढ़ बजे की गाड़ी से विशू भाई दूसरे कुछ कार्यकर्ताओं के साथ जंक्शन में उतरेगा. लेकिन यह लिखा है कि रहने का इंतजाम वे जंक्शन के डाकबंगले में ही करेंगे.

न्यायरत्न डाकबंगले के बरामदे पर गये. सामने का दरवाजा बंद था. लेकिन झरोखे से सब दिखाई पड़ रहा था. एक मेज के चारों ओर पांच-छह नौजवान बैठे थे. बीच में चीनी मिट्टी की एक रकाबी में बिस्किट जैसी कुछ खाद्य सामग्री थी. एक तरुणी चाय का बरतन लिये खड़ी थी.

"दादा जी आप यहां?" विश्वनाथ उठा. उसके एक हाथ में अधखायी कोई चीज थी, जिसे न्यायरत्न नहीं जानते. उसने तुरंत पलटकर अपने मित्रों से कहा, "मेरे दादाजी."

सभी आदर से कुरसी छोड़कर खड़े हो गये. देबू भी वहीं था. न्यायरत्न ने एक बार देबू की ओर निहारा और विश्वनाथ के मित्रों की ओर अचंभे से ताकते रहे. पांच में से दो ने विजातीय पोशाक पहन रखी थी. न्यायरत्न बोले, "तुम्हारे मित्रों का अपना-अपना परिचय तो होगा, भाई."

विश्वनाथ ने परिचय दिया, "ये हैं प्रियव्रत सेन, ये अमर बसु, ये पिटर परिमल राय."

"पिटर परिमल?"

"जी, ये ईसाई हैं."

न्यायरत्न धक् रह गये. उन्होंने चकित दृष्टि से पोते को देखा.

"और ये हैं अब्दुल हमीद."

न्यायरत्न की आंखें जरा और बड़ी हो गयीं.

"और ये जीवन वीरवंशी."

वीरवंशी यानी डोम. न्यायरत्न ने मेज की तरफ ताका. एक ही बरतन में खाने का सामान और वह सामान खर्च भी हुआ था. चाय के सारे प्याले मेज पर रखे थे.

"और ये भी हमारी सहकर्मिणी हैं, अरुणा सेन, प्रियव्रत की बहन."

हंसकर उस लड़की ने न्यायरत्न को प्रणाम किया. हमीद ने एक कुरसी बढ़ा दी. कहा, "बैठिए आप."

न्यायरत्न का संयम मानो चुका जा रहा था. तो भी हमीद की ओर देखकर फीकी हंसी हंसते हुए वे बैठ गये. विश्वनाथ कुरता-बनियान उतारकर साफ कुरता-बनियान पहनने लगा. न्यायरत्न उसके खुले बदन को देखकर दंग रह गये. उसकी देह बाल-विधवा की नंगी कलाई-सी दीप्तिहीन हो रही थी. ओः, जनेऊ. विश्वनाथ के गोरे शरीर को तिरछे घेरकर जनेऊ की जो महिमा, जो शोभा थी, उसी के नहीं होने से ऐसा लग रहा था. न्यायरत्न के शरीर का कांपना अब साफ झलकने लगा. अपने हाथ को बढ़ाकर उन्होंने पुकारा, "गुरुजी, देबू गुरुजी."

देबू आशंका से दूर खड़ा था. वह झट आगे आया, "जी?"

"लगता है, मेरी तबीयत खराब हो गयी है. मुझे तुम घर पहुंचा दोगे?"

देबू व्यस्त-सा उनके पास आया. बोला, "हाथ पकड़ लूं?"

"नहीं-नहीं. न्यायरत्न जोर लगाकर जरा हंसे, "सिर्फ कुछ दूर साथ चलो." और वे बाहर निकल पड़े. कमरा अस्वाभाविक रूप से स्तब्ध और स्तंभित हो गया. किसी से कुछ बोलते न बना. विश्वनाथ चुपचाप बाहर निकला. न्यायरत्न डाकबंगले के बगीचे के बिलकुल उस किनारे खड़े थे. विश्वनाथ जैसे ही उनके करीब पहुंचा, वे बोले, "जया को तुम दुख दोगे."

"मैं नहीं दूंगा, वह खुद दुख पायेगी. सब देख-सुनकर उसके मन को वही आघात लगेगा, जैसा कि आपने पाया. उसने आज तक आपकी पौत्र-वधू होने की कोशिश की है. उसने यही जाना है कि उसका एकमात्र परिचय वही है. आज मेरे वास्तविक रूप से नये सिरे से परिचय करना उसके लिए असंभव है."

एक गहरी सांस लेकर न्यायरत्न ने कहा, "आज से तुम मेरे कोई नहीं. जया मेरी पौत्र-वधू ही रहे. तुमसे अनुरोध है, मरने पर मेरे मुंह में आग मत देना. मुखाग्नि का अधिकार जया का रहा."

कुछ घंटों में बात पांचों गांवों में फैल गयी. अभाव, रोग-शोक से पीड़ित लोग भी डर से सिहर उठे.

तिनकौड़ी के यहां एक खासी जमघट जमी हुई थी. तिनकौड़ी माथे पर हाथ रखे बैठा था. रामचरण, तारणी, वृंदावन, गोविंद आदि कई जने बैठकर तंबाकू पी रहे थे. लेकिन सभी चुप थे. तिनकौड़ी के साथ इन सबकी जब जमायत जमती है, तो चौथाई मील दूर से ही इनकी हंसी सुनाई पड़ती है. जमायत को सन्नाटे में देख देबू को शंका हुई, "बात क्या है काका, आज ऐसे चुप क्यों है?"

तिनकौड़ी ने एक गहरा निःश्वास छोड़कर कहा, "हरामजादा छिदाम घोष—टोले में डकैती में कल रात पकड़ा गया. बीसियों बार मैंने उससे कहा था, अबे हरामजादे, अभी तेरी उम्र कच्ची है. मत जाया कर. मगर कंबख्त ने सुना नहीं. हरामजादा पकड़ा गया. अब सारी बस्ती को परेशान करेगा. मुझे भी नहीं छोड़ेगा."—उसने उसांस ली.

देबू ने एक निःश्वास छोड़ा. जो भाग्यवाले होते हैं, अंधेरी रात में उनके सामने बिजली कौंध उठती है. भाग्यवान अंधेरे में ही राह देखकर चलते हैं. लेकिन अभागे के हाथ की बत्ती भी बुझ जाती है. वह ओसारे पर चढ़ा. देखा, गौर और सोना जहां पढ़ते हैं, वहां कोई नहीं है. सिर्फ एक चटाई बिछी है और दीवट पर एक दीया जल रहा है. उसने पुकारा—"गौर." धीरे-धीरे आकर सोना खड़ी हुई.

देबू ने कहा, "गौर कहां है?"

"भैया घर से चले गये."

देबू चौंका. बोला, "चला गया. क्यों?"

"गुस्से से. दुख से. अभिमान से. जाते वक्त कह गया कि बाबू जी पूछें तो कह देना, मैं घर से चला जा रहा हूं."

एक रोज तिनकौड़ी ने निष्कपट भाव से खुद ही देबू से सारा कुछ खोलकर कहा. घर की तलाशी में कुछ नहीं मिला. लेकिन छिदाम जिंदगी में पहली बार डकैती करने गया और पकड़ा गया. वह पी नहीं सका. कबूल कर लिया. और जिसके घर डकैती हुई, उसके दो आदमियों ने तिनकौड़ी, राम और तारणी को देखते ही पहचान लिया. सब कुछ जान-सुनकर भी देबू को तिनकौड़ी के मुकद्दमे की पैरवी करनी पड़ी.

सोना और उसकी मां की चिंता, उनकी घर-गृहस्ती का प्रबंध, सोना के इम्तहान में सहायता, तिनकौड़ी के मुकद्दमे की पैरवी, सहायता-समिति—इन्हीं सब कामों में देबू के दिन कटते हैं. अब वह इन सबसे मुक्ति चाहता है. यह सब अब ढोया नहीं जाता. अनिरुद्ध के कहे अगर लोग मिल में जाते हैं तो जायें. देबू उन्हें मना नहीं करेगा. उनकी दुख-दुर्दशा के प्रतिकार का फिलहाल इससे कोई दूसरा अच्छा रास्ता नहीं है.

देबू के माथे का बोझा जल्दी उतर गया. दिसंबर के बीचोंबीच तिनकौड़ी के दौरे की सुनवाई खत्म हो गयी. उससे छुटकारे का कोई उपाय ही नहीं था.

देबू जब सोना के यहां पहुंचा तो मां-बेटी रोशनी जलाये बैठी थीं, चुपचाप. देबू ने सोना को वृत्ति मिलने की बात बतायी. यह सुनकर भी सोना ने माथा नहीं उठाया. जरा देर चुप रहकर उसने कहा, "मैं तो अब यहां रहूंगा नहीं चाची जी."

"नहीं रहोगे?" सोना चौंकी. इतनी देर के बाद वह अब बोली, "कहां जायेंगे?"

"तीर्थ करने. सूना घर अब मुझे अच्छा नहीं लगता है."

सोना और कुछ नहीं कह सकी. वह माटी के खिलौनों-सी मौन हो रही. कुछ देर में रोशनी की छटा में देबू की नजर पड़ी—सोना की दोनों आंखों में आंसू की धारा बह रही है.

कई महीनों के बाद.

देश में, सारे भारतवर्ष में फिर देश-प्रेम की एक लहर-सी आयी. एक अनोखा जोश. पंचग्राम में भी जोश जागा. ज्ञान डाक्टर जंक्शन स्टेशन तक आया था. पहनावे में खद्दर का धोती-कुरता, सिर पर टोपी.

डाक्टर भी उस जोश में मतवाला था. जिला कांग्रेस कमेटी के सेक्रेटरी आये थे, वह उन्हीं को विदाई देने आया था. किसी ने उसकी पीठ पर हाथ रखकर कहा, "डाक्टर." जगन ने घूमकर देखा. आनंद और उत्साह से वह मानो लहक उठा. दोनों हाथ फैलाकर बोला, "देबू भाई."

"हां डाक्टर, मैं लौट आया."

डाक्टर ने कहा, "तुम गये. अचानक एक दिन बहुत बड़ा झंडा लिये तिनकौड़ी का बेटा आया. कांग्रेस का झंडा. यहां से भागकर वह कांग्रेस का स्वयंसेवक बन गया था. गांव में काम करने के लिए लौट आया है. तुम्हें नहीं पाकर बेचारा बड़ा मायूस हो गया. कहा, 'देबू भैया नहीं हैं. यह सब करेगा कौन?' मुझसे रहा नहीं गया देबू भाई, उतर पड़ा मैदान में." उत्साह से उमगकर डाक्टर वह कहानी कहता गया : "अब तुम आ गये न, तुमको अब छोड़ूंगा नहीं. तुमने जो सोच रखा है कि दो दिन में चला जाऊंगा—सो नहीं होगा."

देबू ने कहा, "मैं जाऊंगा नहीं डाक्टर. उसी के लिए तो लौटा हूं. इन कई महीनों में बहुत घूमा. कुछ दिन तक त्रिवेणी संगम पर झोंपड़ा डाला. रात-दिन बिलू और मुन्ने को पुकारता था. अच्छा नहीं लगा. काशी आया. न्यायरत्नजी वहां थे. उन्होंने मुझसे कहा, तुम लौट आओ गुरुजी. तुम्हारा यह रास्ता नहीं है. इसमें तुम शांति नहीं पाओगे. जो मर जाता है, उसे फिर दुनिया में खोजकर नहीं पाया जाता. तुम जिसे बाहर खोज रहे हो, वह है नहीं, तुम्हारी घर-गिरस्ती की कामना है." देबू चुप हो गया. जगन भी कोई जवाब नहीं दे सका.

कुछ देर चुप रहकर उसने कहा, "मैं आज भी ठीक-ठाक समझ नहीं सका डाक्टर कि मेरा मन वास्तव में चाहता क्या है. बिलू, मुन्ने की सोचने बैठता हूं तो उसी में गांव की, तुम लोगों की याद आ जाती है. तुम्हारी, दुर्गा की, चौधरी की याद आती है. गौर की– खैर वह शैतान आ गया."

डाक्टर ने कहा, "अनोखा उत्साह है गौर को. उसकी बहन सोना भी खूब काम करती है."

"सोना. वह पढ़ती है न? नौकरी कर रही है?"

"हां. लेकिन नौकरी अब रहेगी या नहीं, संदेह है."

देबू कुछ देर चुप रहकर बोला, "नहीं रहेगी, न सही. यही तो मैं सोचता था डाक्टर. जब चारों तरफ जुलूस, बैठक होते देखता था, लगता हमारे पंचग्राम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ. और अंत तक मैं नहीं रह सका, भागा आया!" डाक्टर ने कहा, "चलो देखना, बहुत काम हुआ है."

घर के अंदर जाने पर देबू चकित रह गया. घर की शक्ल कतई बदल गयी थी. जतन से चारों तरफ घर झकमका रहा था. देबू ने कहा, "यह. कौन करता है इसकी देखभाल?"

सोना बोली, "मैं. हम लोग तो यहीं रहते हैं."

देबू ने पूछा, "चाची जी कहां हैं?"

सोना ने कहा, "मां नहीं रहीं देबू. दो-एक महीना हुआ, गुजर गयीं."

देबू ने लंबा निःश्वास छोड़ा. चाची बड़ी दुखिया थीं. हाथ-मुंह धोकर देबू ने सूटकेस से खद्दर की एक साड़ी निकाली—"यह तुम्हारे लिए लाया हूं."

सोना का चेहरा दमक उठा.

तीन साल बाद. सन् उन्नीस सौ तैंतीस.

जिला जेल का फाटक खुल गया. देबू बाहर निकला. कानून-भंग आंदोलन में वह गिरफ्तार हुआ था. डेढ़ साल की सजा हुई थी. सन् तीस के जून में जिले भर में सभा और जुलूस की मनाही का आदेश जारी हुआ था. उस आदेश को तोड़कर उसने जुलूस निकाला था. सभा की थी. उसे न केवल सजा हुई थी, माथे पर चोट भी आयी थी. छुटकारे का आदेश आने पर पहले दिन सांझ को देबू का मन बड़ा चंचल हो उठा था. उसने अधिकारियों से कहा था—"यदि कृपा करके ऐसा कर दें कि मैं सुबह की गाड़ी पकड़ सकूं तो बड़ा अच्छा हो."

अधिकारियों ने उसकी बात मान ली. स्टेशन जाने के लिए तड़के मोटर का भी इंतजाम कर दिया था.

वह जब जंक्शन में उतरा तो दस बज रहे थे. वह मयूराक्षी के घाट पर उतरा. नाव इस पार आ रही थी. इस पार के घाट पर बहुतों से मुलाकात हुई. उस पार के घाट पर भी बहुतेरे लोग खड़े थे. उन्होंने भी देबू को देखा. कुछ लड़के खड़े थे. वे उसी पार से चिल्ला उठे—"देबू भैया! देबू भैया!" उनमें से दो गांव की तरफ दौड़ पड़े. देबू ने मुसकराकर हाथ उठाते हुए इशारा किया.

शिवकालीपुर के घाट पर उतरते ही डाक्टर ने उसे छाती से लगा लिया. लड़कों के चेहरे दमकने लगे. पहले प्रणाम करने की उनमें होड़ लग गयी. मुस्कराते हुए देबू ने उनके सिर पर हाथ रख-रखकर डाक्टर से कहा, "गौर कहां है?"

"जेल से आने के बाद से वह एक तरह से यहां से चला ही गया है." डाक्टर ने कहा, "कलकत्ते में कहीं रहता है."

देबू ने पूछा, "और सोना?"

"सोना जंक्शन में मास्टरी करती है, वहीं रहती है." डाक्टर ने कहा, "विश्वनाथ के बारे में मालूम है?"

"मालूम है. जेल में ही खबर मिली थी."

विश्वनाथ नहीं रहा. वह जेल में ही मर गया. उसके लिए कई अंधेरी रातें देबू ने जेल के झरोखे पर खड़े होकर रो-रोकर गुजारी हैं.

दुर्गा ने घर खोल दिया. घर-द्वार वह साफ-सुथरा रखा करती थी. रास्ते पर खड़े होकर देबू चारों तरफ देख रहा था. हर घर में टूटन शुरू हो गयी थी. जगह-जगह की मिट्टी धंस रही थी.

दोपहर को देबू अकेला बैठा सोच रहा था. तीन साल हो गये. बिलू और मुन्ने की चिता पर वह नहीं जा सका है. फूल हाथ में लिये वह मरघट की तरफ चल पड़ा. दोपहर भर चिता के पास बैठा रहा. शाम को वह घर के लिए चला. चलते-चलते ठिठक गया. हवा के झोंके से उड़कर आयी हरसिंगार की महक ने उसका कलेजा भर दिया. मंत्रमुग्ध की नाईं उस गंध का अनुसरण करता हुआ अपने घर के सामनेवाले हरसिंगार के पास जा खड़ा हुआ.

"कौन है वहां?" एक नारी कंठ ने पूछा. देबू के ओसारे एक औरत उतर आयी. "बाप रे! सांझ से ही आकर बैठी हूं."—कहते-कहते वह देबू के बिलकुल करीब आकर खड़ी हो गयी और बोली, "मुझे पहचान नहीं रहे हैं, मैं सोना हूं." और फिर उसने झुककर देबू को प्रणाम किया. बोली, "तीसरी पहर खबर मिली. शाम को आयी हूं. आप तो जंक्शन से ही आये. खबर नहीं भिजवायी?"

देबू ने कोई जवाब नहीं दिया. वह एक अजीब ही दृष्टि से उसे देख रहा था. उसे देखते हुए उसकी पलकें गिर नहीं रही थीं. गाढ़े स्नेह और संभ्रम के साथ हाथ बढ़ाकर उसने सोना का हाथ पकड़ा. कहा, "तुमसे मुझे बहुत कुछ कहना है सोना." उसके स्पर्श से सोना कांप उठी. ज्वर के उत्ताप से जलते आदमी की तरह देबू का हाथ गरम था.

"डरो मत! यह पल बीत जाने से शायद मेरा कहना हो नहीं पायेगा. सोना, मैंने आज समझा है कि मैंने तुम्हें प्यार किया है."

सोना कांप रही थी. वह देबू को ही पकड़कर किसी तरह खड़ी रही. देबू को जो कहना था सोना से कहता चला जा रहा था.

देबू ने कहा, "मेरी तुम्हारी उस गिरस्ती में समानाधिकार होगा. पति प्रभु नहीं, पत्नी दासी नहीं कर्म के पथ पर दोनों एक-दूसरे से कंधा मिलाकर चलेंगे. तुम यहां की लड़कियों, बच्चों को पढ़ाओगी, मैं पढ़ाऊंगा लड़कों को, युवकों को. तुम्हारी और मेरी, दोनों की कमाई से हमारी धर्म की गिरस्ती चलेगी."

सोना अपलक आंखों देबू की ओर देखती हुई चुपचाप सुन रही थी. शर्म नहीं, संकोच नहीं. चेहरा जरा लाल हो उठा था सिर्फ. वह उठी, गले में अंचरा डालकर उसने देबू को प्रणाम किया. बोली, "तुम आकर मुझे लिवा आना. जिस दिन लाओगे मैं आऊंगी."

अंधेरे को मिटाकर सूरज उगने लगा. □

● संक्षिप्त रूपांतर : धीरेंद्र अस्थाना

कविता मेरे लिए आत्मा का प्रकाश है !

▣ जी. शंकर कुरुप

प्रकृति-प्रेम और राष्ट्र गौरव, प्रारंभ में ये ही तत्व मेरी कविता के जीवतंतु बने हुए थे. सांध्य-नक्षत्र जब हंसने लगता, तब मेरा हृदय भी हंसता था, इससे मुझे अनुभव हुआ कि मुझमें और उस नक्षत्र में एक ही चेतना-शक्ति विद्यमान है. इस अनुभूति से मुझे जो आनंद हुआ उसका वर्णन करने की क्षमता 'सांध्य-नक्षत्र' से 'अंतर्दाह' और 'विश्वदर्शन' तक पहुंचने पर भी मेरी भाषा में नहीं है. तरंग-ताड़ित नदी में संवेदनाओं की उथल-पुथल मचाने वाले मेरे हृदय का आभास देख पाना, 'सूर्यकांति' के कंपित अधरों में मेरे भाव-तरल अधरों को देख सकना, अरुणोदय की प्रतीक्षा में तपस्या करनेवाले मेरे जीवन को देख सकना—मेरे लिए परमानंद का कारण है.

मेरे लिए मेरी सभी कविताएं मेरे आत्म-विकास का प्रतिबिंब हैं. 'सूर्यकांति' मेरे श्मशान का फूल नहीं, वरन तारुण्य के शिखर पर मधुर संवेदनाओं से प्रेरित होकर खिला हुआ मेरा ही हृदय है. उसके बाद मैं वहां से भी ऊपर उठ गया हूं. मेरी आंखों ने नये दृश्य देखे हैं, कानों ने नयी ध्वनियां सुनी हैं. मेरे हृदय ने अपनी व्यक्तिगत परिधि को पार कर विश्वमात्र के जन-जलवन के साथ एकाकार होने की चेष्टा की है. हो सकता है, 'सूर्यकांति' के बाद की मेरी कविताओं में आध्यात्मिक या लौकिक प्रेम-स्वप्नों का उन्माद न छलकता हो.

किंतु मैं दावा करता हूं कि उन कविताओं में एक अधीर हृदय का स्पंदन है, जो मनुष्य की महत्ता में गर्व करता है, जिसमें सुंदर भविष्य के स्वप्नों का उत्साह है, जो मनुष्यता का मूल्य गिरता देखकर दुखित है और जो सौंदर्य-बोध को मनुष्य-जीवन के लिए मृत-संजीवनी मंत्र समझता है.

मेरे लिए कविता आत्मा का प्रकाश मात्र है. जैसे धूसर क्षितिज पर संध्या की छवि प्रतिबिंबित होती है, वैसे ही वसुंधर छंदों के पदबंधों में कवि का हृदय प्रतिबिंबित होता है. इस आत्म-प्रकाश से और कुछ बने या न बने, किंतु एक कलाकार के लिए यह परमानंद का कारण है.

जैसे मंद पवन हंस के पंखों को ऊपर उड़ा ले जाता है वैसे ही परमानंद की यह अनुभूति एक कलाकार की आत्मा को भौतिक शरीर से परे उठा ले जाती है. प्राचीन मनुष्य द्वारा गुहा-भित्ति पर अंकित हिरण के चित्र को ही लीजिए. जब मनुष्य के हृदय से निकलकर वह हिरन अचल शिला पर दौड़ने लगा तब उसके साथ उस मनुष्य की आत्मा ने कितनी उड़ानें भरी होंगी. उस मनुष्य की अनुभूति का वह प्रतीक जब उसके मित्रों के हृदयों को भी पुलकित करने लगा तब वे भी उसके निकट खिंच आने लगे. इस प्रकार जो केवल एक व्यक्ति की आत्मा का प्रकाश था उसका एक सामाजिक मूल्य उत्पन्न हो गया. एक कवि होने के कारण अपनी अनुभूतियों का प्रकाश ही मेरे लिए परमानंद का विषय है.

और यदि उस आनंद का अस्वादन अन्य लोगों को भी करा सका तो वह मेरी विजय होगी. उससे मेरी कला को एक सामाजिक आधार मिलेगा—अन्य लोगों के द्वारा उत्कर्ष होगा मेरा अथवा मेरे द्वारा अन्य लोगों का! यह अनुभूति कैसी वांछनीय है, और कितनी आत्म-संतप्ति है उसमें! □

नक्षत्र-गीत

स्नेहार्द्र होकर जलनेवाली
मेरे जीवन की बाती में
सदा हो दुःख की दिव्य ज्वाला
प्रज्वलित रहे,

किंतु,
नहीं करूंगा मैं पंकिल
अपने निश्वासों की धूम-रेखा से
देवताओं के गगन-पथ को.

आमरण, नहीं बांटूंगा किसी को भी
अपनी आत्मा में व्याप्त ताप को
चाहे
भस्म ही क्यों न हो जाऊं!

मैं तो
दहकता रहता हूं अपनी चिता के भीतर
किंतु, पथिक को दीखती है मुझमें
मंद हास की आभा.

हो सकता है
मैं मूर्छित होकर
गिर जाऊं गगन की गहन गहराइयों में,
अथवा हो जाऊं भस्मीभूत,
क्षार-क्षार—
और भूल जाये काल,
मुझ क्षुद्र तारे को,
तथापि यह सत्य है :

जीवन मेरे लिए रहा धधकती भट्ठी,
किंतु उसके प्रकाश उजियारा
दिया धरा को. □

▣ जी. शंकर कुरुप
ज्ञानपीठ पुरस्कार के प्रथम प्राप्तकर्ता थे मलयालम केमहा कवि जी. शंकर कुरुप. 1965 का यह पुरस्कार इन्हें इनके काव्य संकलन 'ओटक्कुषल' के लिए मिला था. श्री कुरुप मुख्य रूप से प्रकृति के कवि हैं. पर उनका प्रकृति प्रेम छायावाद की अपेक्षा रहस्यवाद के अधिक निकट पड़ता है. 'ओटक्कुषल' से ली गयी प्रस्तुत 'नक्षत्र गीत' से श्री कुरुप की कविता की एक झलक हमारे पाठकों को मिल सकेगी.

मैं और मेरा परिवेश

▣ सुमित्रानंदन पंत

● चित्रपट की तरह झलकता अतीत

कविवर पंत, जहां छायावादी कवियों में प्रमुख रहे हैं, वहीं उनकी वैचारिकता में विश्व जीवन की गंभीर चिंताएं भी मौजूद हैं. सामूहिक जीवन के पक्ष में इतिहास की पुकार को महत्व देने के साथ-साथ वे पिछली मानसिकता के आवरण से मुक्त होने की ओर भी संकेत करते दिखाई पड़ते हैं... सन् १९६८ के ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित हिंदी रचनाकार का निबंध. . .

अपने और अपने परिवेश के बारे में सोचने में मन में कई प्रकार की उलझनें पैदा होने लगती हैं और अनेक प्रकार के ऊहापोह उठने लगते हैं. पहली बात यह कि 'मैं' कोई स्थिर इकाई है या परिस्थिति तथा परिवेश की तरह ही यह भी परिवर्तनशील तथा विकासशील है. दूसरा यह कि 'मैं' को जीवात्मा का प्रतिनिधि समझा जाये या व्यक्ति की अहंता का. मेरे विचार में 'मैं' साधारणतः अहंता ही का प्रतिनिधित्व करता है और आत्मा का प्रतिनिधि बनने तक, जो 'जीव जरे न मरे नहि छीजे' के अनुसार अक्षय है, उसे समय लगता है और मन के अनेक स्तरों को पार करना पड़ता है, जो सदैव ही सभी के लिए संभव नहीं है. अतः अपने 'मैं' को मानसिक अहंता ही की इकाई मानकर जब मैं अपने तथा अपने परिवेश के बारे में सोचने लगता हूं तो मेरे सामने मेरा अतीत चित्रपट की तरह झलक उठता है.

संयोगवश मेरा जन्म हिमाचल के अंचल में कूर्मांचल की सौंदर्यस्थली कौसानी में हुआ, जो अपनी नैसर्गिक शोभा के कारण प्रसिद्ध है. किशोर होने पर तथा अपने बाह्य जगत का परिचय प्राप्त करने पर मैंने अपनी आंखों के सामने निरंतर स्वर्गचुंबी हिमालय के शिखरों को खड़ा देखा और साथ ही विभिन्न ऋतुओं में अपने रूप को बदलती हुई उस पहाड़ी उपत्यका की, आंखों को अनिमेष रखने वाली, सुंदरता को पाया. कौसानी में चाय का बगीचा होने के कारण वहां की आबादी काफी थी. मैं यह नहीं कहता कि वहां रहने वालों को उस प्राकृतिक सौंदर्य के सम्मोहन का अनुभव उसी प्रकार होता था जैसा कि मुझे हुआ करता था, पर उस पर्वत प्रदेश के सौंदर्य तथा हिमाचल की विराट उच्च चोटियों ने जैसे मेरे भीतर एक कभी न मिटनेवाले उदात्त सौंदर्य की गहरी नींव डाल दी, जिस पर मैं आगे चलकर अपने जीवन अनुभवों का संसार निर्मित कर सका.

वास्तव में जिसे हम 'मैं' कहते हैं, उसके साथ मनुष्य के पूर्वजन्म तथा वंश-कुल, माता-पिता आदि से ग्रहण किये हुए विशेष संस्कार अविच्छिन्न रूप से जुड़े होते हैं और उन्हीं संचित संस्कारों के अनुरूप मनुष्य अपने चतुर्दिक व्याप्त संसार तथा जीवन की परिस्थितियों से अपने जीवन मूल्यों के विश्व को खोजकर अपने व्यक्तित्व को ज्ञात-अज्ञात रूप से निर्माण करता है और वही उसका संसार होता है. इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों का 'मैं' उनके संस्कारों, रुचियों तथा स्वभावों का द्योतक होने के कारण सबमें भिन्न-भिन्न होता है, और उनका संसार भी तदनुरूप ही भिन्न होता है. उदाहरण के लिए एक साहित्यकार जिस अंतर्मन के संसार में रहता है, एक राजनीतिज्ञ उसमें नहीं रहता है. उसका संसार मुख्यतः परिवर्तित होती हुई वर्तमान बाह्य वास्तविकता का संसार होता है. इसी प्रकार एक समाजसेवी या व्यापारी का भी अपना अपना पृथक संसार होता है. जहां मानव स्वभाव में विविधता पायी जाती है, वहां उसके भीतर एक अटूट एकता का सूत्र भी पाया जाता है. इसीलिए साहित्य, संस्कृति, राजनीति, समाज-रचना आदि के जीवन-मूल्यों के स्तर कहीं परस्पर जुड़े हुए भी होते हैं और मानवता के विकास में वे एक-दूसरे के सहायक होते हैं.

मेरे भीतर सौंदर्य का संस्कार प्रबल रहा होगा, जिसे प्रस्फुटित करने में कौसानी के दिग्चुंबी सौंदर्य ने मेरी सहायता की और कल्पना के जगत को मेरे लिए वास्तविकता के जगत से अधिक मोहक तथा सत्य बना दिया. हिमालय की एकांत पृष्ठभूमि ने मेरे मन को एकांतिकता प्रदान की, इसीलिए यौवनारंभ तक मैं बाह्य जगत के संघर्ष के आघातों से अपरिचित आम की डाली पर बैठ कोयल तथा फूलों पर मंडराते मधुकर की तरह, अपनी ही भावना के जगत में विचरण कर प्राकृतिक सौंदर्य के पल-पल परिवर्तित रूपों के गीत गुनगुनाता रहा. तत्कालीन साहित्य के अध्ययन से शब्द, अर्थ, भाव तथा रस को लेकर मेरी असंदिग्ध सौंदर्य-दृष्टि ने उसमें जैसे रासायनिक प्रक्रिया पैदा कर उन्हें नयी व्यंजना के छंदों तथा स्वरों में, नैसर्गिक सुषमा गरिमा की वेणी में गूंथ दिया. परिवेश मनुष्य को किस प्रकार प्रभावित करता है, मेरा प्रारंभिक जीवन इसका जीवंत उदाहरण रहा है.

सौंदर्य? हां सौंदर्य—इसे मैं चिरंतन जीवन मूल्य मानता हूं. मनुष्यत्व के सभी मूल्य इस शाश्वत मूल्य में समाहित हो सकते हैं और इसके द्वारा अभिव्यक्ति पा सकते हैं. बचपन में सौंदर्य की जो विराट् गंभीर भावना मेरे अंतर्मन में प्रवेश कर गयी थी, उसने आजीवन मेरा साथ नहीं छोड़ा. बल्कि कहना चाहिए, वह आगे चलकर उतना आल्हाद का कारण नहीं रही, जितना कि दुःख, संघर्ष, चिंतन तथा निरंतर तप का कारण बन गयी. युवावस्था में जब मुझे अध्ययन-मनन के लिए बड़े-बड़े नगरों की शरण लेनी पड़ी और साहित्यिक जीवन की स्वास्थ्य तथा अर्थ संबंधी अनेक प्रकार की विवशताओं के कारण भारतीय गांवों के अंचल में निवास करना पड़ा, तब मेरी सौंदर्य दृष्टि अथवा सौंदर्य प्रेम मेरे लिए एक महान संकट की वस्तु अथवा अभिशाप बन गया. उस सौंदर्य को मानव जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिए मेरा मन छटपटाने लगा और बाहरी तथा व्यक्तिगत दृष्टि से सुख-सुविधा के साधन सुलभ होने पर भी भीतरी दृष्टि से मैं एक सौंदर्य-क्षुधित अपरिचित व्यक्ति की तरह जैसे अस्थायी रूप से इस संसार की सराय में रहने जैसा जीवन व्यतीत करने का अनुभव करने लगा.

अब मेरा प्राकृतिक सौंदर्य का प्रेम मानव जीवन में सौंदर्य खोजने के महान अनुष्ठान में संलग्न हो गया और मुझे प्रतीत होने लगा जैसे प्रकृति का सबसे सूक्ष्म, निगूढ़, गहन तथा जटिल रूप, वनस्पति तथा पशु-पक्षी जगत से कहीं अधिक महत्वपूर्ण, मानव जीवन में अभिव्यक्त हुआ है और उस सौंदर्य को वर्तमान मानव जीवन की अनेक प्रकार की क्षुद्रताओं, विषमताओं, दरिद्रताओं तथा मानसिक दुर्बलताओं, रुग्णताओं तथा अभावों में से खोज निकालकर उसे विश्व प्रकृति के अनुरूप विकसित मानव जीवन में स्थापित करना है, जिससे मनुष्य निष्कलुष प्रकृति के अधिक निकट आकर पृथ्वी पर पशु-पक्षियों के जीवन को अतिक्रम कर जीवन-ईश्वर का प्रतिनिधि बन सके. और जिस दिव्यता के स्रोत का प्रवाह उसके भीतर रुक गया है, वह उन्मुक्त रूप से प्रवाहित होकर इस धरती को नये जीवन-सौंदर्य से आप्लावित कर सके.

इस सत्य को मूर्त रूप देने की संभावना इस युग में अधिक संभव प्रतीत होती है बशर्ते मनुष्य अपने को पिछली मानसिकता के आवरण से मुक्त कर सके और विगत युगों की जिन सीमित परिस्थितियों पर आधारित जीवन मूल्यों से उसके मन का निर्माण हुआ है, उनका विश्लेषण कर नयी परिस्थितियों के अनुरूप मानवीय मूल्यों का उद्घाटन कर उन्हें नये सामाजिक संबंधों का रूप देने में समर्थ हो सके. विज्ञान ने आज ऐसी स्थिति उपस्थित कर दी है कि समस्त मानवता अपने को एक सूत्र में बांध सकती है. ज्ञान ने जिस प्रकार अतीत काल में मानव हृदय की ग्रंथि खोली थी और अहंता के संकीर्ण आवरण को उठाकर मनुष्य को उसकी व्यापक आत्मा के दर्शन कराने के उपाय बतलाये थे, उसी प्रकार इस युग में विज्ञान ने जड़ की ग्रंथि खोल दी है और जिस मूलगत शक्ति से अणु की रचना हुई है, उसे मुक्त कर मनुष्य के हाथों में सौंप दिया है. जड़ जगत मानव-विकास के पथ में एक पर्वताकार अवरोध बना हुआ था, आज देश-काल मनुष्य को हस्तामलकवत हो गये हैं. विज्ञान ने मनुष्य को अनेक प्रकार की शक्तियां देकर मानव जगत के लिए सामूहिक उत्थान के द्वार खोल दिये हैं. इस बात को किसी तरह नहीं भुलाया जा सकता कि मनुष्य को सामूहिक जीवन की परिस्थितियों का पुनर्निर्माण कर बहुजनहिताय एक नवीन सभ्यता को जन्म देना है. आज व्यक्ति के जीवन का परिवेश उसके नगर, प्रांत या देश तक ही सीमित नहीं रह गया है, वह इनसे कहीं अधिक व्यापक हो गया है. आज मनुष्य विश्व-जीवन का अंग बनता जा रहा है और विश्व-जीवन की परिस्थितियां उसके बाहरी-भीतरी परिवेश को अधिकाधिक शासित करती जा रही हैं. आज विश्व शांति तथा विश्व मानवता के जीवन को सामने रखकर समस्त देशों को अपने आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में नवीन संयोजन तथा संतुलन स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत हो रही है. अतः सामूहिक जीवन के पक्ष में आज इतिहास की पुकार को अनसुना नहीं किया जा सकता.

किंतु मनुष्यत्व की पूर्ण एवं समग्र अभिव्यक्ति के लिए लोक-जीवन अथवा सामूहिक जीवन ही पर्याप्त नहीं है, भले ही वह एक अनिवार्य सत्य हो. मनुष्यत्व के संपूर्ण विकास के लिए व्यक्तित्व का भी अंतर्विकास या ऊर्ध्व विकास करने की बहुत बड़ी आवश्यकता है. यदि मानवता का सामूहिक समदिग्विकास उसका आधारभूत धरातल है तो व्यक्ति के रूप में मानव का समग्र विकास उसके मनुष्यत्व का शिखर है. इस युग में विभिन्न विचारों, दर्शनों, राजनीतिक-सामाजिक संघर्षों के संपर्क में आने के उपरांत और मानव की समस्याओं का गहन मनन एवं अध्ययन करने के बाद मैं इसी परिणाम पर पहुंचा हूं कि आज की आधिभौतिक शक्तियों के विकास के युग में मनुष्य को अपनी आंतरिक चेतना की शक्तियों का भी उसी अनुपात में विकास करना है, नहीं तो विश्वजीवन में पारस्परिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामदिक् स्पर्धा के कारण कभी भी संकट का क्षण उपस्थित हो सकता है और विज्ञान की शक्ति, निर्माण करने के बदले, विश्व-जीवन का ध्वंस कर सकती है जैसा कि शक्तिसंपन्न देशों की आणविक अस्त्रों की निरंतर बढ़ती हुई होड़ से प्रतीत होता है. व्यक्ति-मुक्ति, सामूहिक समता और मानवीय एकता—ये तीनों मूल्य मानवता के भावी विकास के लिए अनिवार्य रूप से सत्य तथा उपयोगी हैं.

मेरे पास कोई जीवन-दर्शन नहीं है, केवल मानव जीवन में अंतर्दृष्टि भर है. दर्शन की सीमा मुझे प्रौढ़ होते ही ज्ञात हो गयी थी. हिमालय के शिखरों ने जो एकांतिकता मेरे स्वभाव को दी थी, उसे इस भारतीय पुनर्जागरण के युग में उपनिषदों के अध्ययन-मनन ने चैतन्य के शुभ्रशिखरों से आलोकित कर दिया और शीघ्र ही मुझे प्रतीत होने लगा कि एकांतिकता को जीवन-विमुख न होकर जीवन के प्रति व्यापक सहानुभूति से उन्मुख होना है. मानवता का मंगल न मुझे थोथे समाजवाद के नारों ही में दिखने लगा, न कोरे अध्यात्मवाद के आह्वानों में. दोनों ही मुझे एकांगी और संकटग्रस्त प्रतीत होने लगे. किंतु मानव के ऊर्ध्व एवं सांस्कृतिक विकास के लिए लोक-जीवन के निर्माण तथा उत्थान की आवश्यकता वर्तमान युग का सर्वोपरि सत्य है, भले ही इसे नहीं भुलाया जा सकता हो. वही पूर्ण सत्य नहीं है.

मानव जीवन की बहिरंतर मान्यताओं का परिचय पाने के बाद मेरे मन में मानव भविष्य एवं लोक-मंगल के लिए एक आशावादी दृष्टिकोण पैदा हो गया और मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि मनुष्य के बाह्य और अंतर विकास को एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता. शांति, प्रेम, आनंद, सौंदर्य तथा रचना-शक्ति सब एक ही मानवीय सत्य के पर्याय हैं. मानव का समस्त बोध, साधना, कला तथा कर्म-चेष्टा जीवन-चेतना के निर्माण के लिए समर्पित होनी चाहिए. जीवन-ईश्वर ही केवल मात्र पृथ्वी का ईश्वर है, उसके बिना उसका परात्पर रूप भी केवल शून्यवत है. विश्व जीवन के बहिरंतर निर्माण की तुलना में आध्यात्मिक सिद्धियां केवल नट के खेल-सी लगती हैं.

कला से उसके माध्यम से व्यक्त सत्य का मूल्य मेरे लिए अधिक है. मानवता का वैयक्तिक तथा सामूहिक दृष्टि से बहिरंतर रूप में परिपूर्ण निर्माण एवं विकास हो सके, तभी वह उस समग्र सौंदर्य की प्रतिनिधि हो सकती है. जिसके दर्शन मुझे कभी हिमालय की गोद में हुए थे.

एवमस्तु! □

['साठ वर्ष तथा अन्य निबंध' से]

दृष्टिबोध

▣ सुमित्रा नंदन पंत

प्रतिबद्ध साहित्य सर्वथ ही प्रगतिशील और अप्रतिबद्ध साहित्य सर्वथ प्रतिगामी नहीं कहा जा सकता. प्रगतिशीलता और प्रतिगामिता का संबंध लेखक की प्रतिबद्धता से भी अधिक उसकी बोध-दृष्टि की व्यापकता एवं प्रबुद्धता से होता है. हम एक संप्रदाय की विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध होकर प्रतिगामी साहित्य को भी जन्म दे सकते हैं, यदि वह संप्रदाय युगीन प्रगति का पोषक न हो या विकास की शक्तियों का विरोधी हो. ज्ञात रूप से प्रतिबद्ध न होने अथवा अप्रतिबद्ध रहने पर भी लेखक की चेतना को अज्ञात रूप से प्रगति की शक्तियां प्रभावित कर सकती हैं.

यों सृजन प्रेरणा केवल मन के ऊपर छाये हुए चेतन तत्वों या प्रभावों से ही परिचालित नहीं होती, वह अवचेतन की शक्तियों तथा अंतरचेतना की मौन गहराइयों से भी संचालित होती है. अतः प्रगतिशीलता और प्रतिगामिता को प्रतिबद्धता-अप्रतिबद्धता से जोड़ना न्यायसंगत नहीं लगता.

प्रगतिशीलता को भौतिक सामूहिक प्रगति तक ही सीमित करना उसे आंशिक दृष्टि से देखना है. मानव-जीवन एवं लोक-जीवन का सर्वांगीण विकास एवं प्रगति ही पूर्ण एवं समग्र प्रगति की दृष्टि है.

जन राशि और मानवीय गुण में संयोजन होना अनिवार्य है. अतः प्रगति के प्रति केवल ऊपरी या बाहरी छिछला दृष्टिबोध भी कभी-कभी प्रतिगामी साहित्य को जन्म दे सकता है.

लेखक की अंतः प्रबुद्धता के साथ युग-प्रबुद्धता ही प्रगतिशील अथवा प्रतिगामी साहित्य की कसौटी हो सकती है. □

हिंदी कहानी

अवगुंठन

सुमित्रानंदन पंत

नारी-जीवन का वह कैसा अनुभव होता है, जहां वह अपने अंत:करण में लबालब भरे हुए स्नेह को बांटती है . . . पर कितना अंतर होता है स्नेह की मात्रा में! कैसा होता है उसका मानदंड . . . जो एक साथ कई लोगों में अलग-अलग मात्रा में अपना स्नेह बंटने देता है . . . ?

अब के एम.ए. की परीक्षा समाप्त कर जब रामकुमार घर आया तो स्नेहप्राण मां का एकांत अनुरोध न टाल सका. अभी दो साल पीछे, अचानक हृदय रोग से पिता की मृत्यु हो जाने के कारण संतोष-मूर्त्ति मां के मर्म में जो चिरस्थायी घाव पड़ गया था, उसकी पीड़ा के चिह्नों को थोड़ा-बहुत मिटाने का एकमात्र उपाय यही था कि घर में एक नया चांद का टुकड़ा आकर नयी चांदनी फैलाये. कुमार के पिता अपनी इकलौती संतान के लिए प्रचुर धन-संपत्ति छोड़ गये थे. केवल एक नवीन-वयस, नवीन जीवन अपने नवीन उल्लास -उमंग के चंचल, मुखर पद न्यास से उस जड़ संपत्ति को सजीव कर दे. उस विशाल नीरव भवन में स्वर भर दे. . .इसी की कमी थी

रामकुमार शिक्षा-प्राप्त युवक था. जात-पांत, कुल-वंश का आडंबर और विवाह-संबंधी पुश्तनी रीति-रस्म से उसे रत्ती-भर पसंद न थे. परदे की प्रथा से तो उसे एकदम घृणा थी. वह उसे आदिम-युग की आंखों पर पड़े हुए अंधकार का चिह्न कहता था. जैसे कि प्रत्येक शिक्षित युवक सोचता है, रामकुमार भी अविद्या के अंधेरे में पले हुए इन अंध रीति-रिवाजों के डैने तोड़-मरोड़कर समाज के जीर्ण वृक्ष की ठूंठी टहनियों से उनकी उलूक बस्तियों को जड़ से उखाड़ फेंक देना अपना कर्तव्य समझता था. पर समय पर वैसा कुछ भी न हो सका. उन्हीं रीति-रस्मों की प्रसूती, उन्हीं अंध संस्कारों में पली हुई, किंतु उनसे कहीं अधिक सजीव, संस्कृत और शांतमूर्त्ति मां के हाथों से वे पुरानी रीति-नीतियां एकदम उतनी भद्दी नहीं लगीं. मां ने उनकी कुरूपता के ऊपर जैसे अपना चिर-परिचित अंचल डाल दिया. एक दिन बहुत बड़ी धूम-धाम, सज-धज और बंधु-बांधवों के उत्सव कोलाहल के बीच अपनी ही लज्जा की लपेटनों में खोयी हुई-सी नववधू ने चुपके से उन्हीं पुराने रीति-रस्मों के झरोखे से रामकुमार के पिता शिवकुमार की विशाल अट्टालिका में प्रवेश कर उसे अपने नवीन सुहाग की मौन मधुरिमा से भर दिया. रामकुमार ने देखा, मां के स्नेह और यत्नों से, आज दीर्घकाल के बाद, बिलकुल ही नये ढंग से सजे हुए घर के अंत:पुर का विशाल कमरा जैसे अपना वास्तविक केंद्र खो बैठा है, उसकी केंद्रवाहिनी नाड़ियां आज अपने को सबसे अलग किये हुए एक कोने की ओर प्रवाहित हो रही है. कमरे की सभी वस्तुएं, सभी सजावट का सामान, छत, फर्श और दीवारें तक उस कोने से सटे हुए एक लंबे घूंघट के भीतर झांकने के प्रयत्न में संलग्न, किंतु अफसल-प्राय दीख रही हैं.

बरसात के बादलों में छिपे रहने के कारण चांद के दर्शन सहज में नहीं होते, किंतु यह कल्पना कि वह कहीं, इन्हीं बादलों के बीच में है, और यह उत्कंठा कि न जाने कब उनके विरल अंतराल से उसकी झलक मिल जाये और भी मोहक बनाये रहती है. रामकुमार को भी जान पड़ा कि छुई मुई के पौधों की तरह, अस्तित्व-हीनप्राय, केवल अनुपात मात्र उसकी बहू, अपने संकोच में अत्यधिक सिमट जाने के कारण और भी व्यक्त एवं सर्वव्याप्त हो उठी है. इस अपने को छिपाने की कला ने मानों उसका सौंदर्य कहीं अधिक प्रस्फुटित कर दिया है. समस्त घर में, बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, न जाने किस माया-बल से उस संकोच में सिमटी हुई, अपने ही भीतर छिप जाने वाली बहू की उपस्थिति की बेलि पुष्प-पल्लवित होकर फैल गयी है. सबको उसके आगमन की सूचना मिल गयी है और सभी ओर नयी सज-धज के चिह्न दिखाई देने लगे हैं.

देश-काल की आलोचना और जनरव से दूर, अंत:पुर की चहार-दीवारी के अंदर नवीन अनुराग की उत्सुक आंखों से देखने में, भारतीय नारी और समस्त सभ्य संसार की बीच छाया की तरह पड़े हुए और बाहर के प्रकाश को छिपानेवाले उस घूंघट का सौंदर्य रामकुमार को किसी प्रकार की अवहेलना करने योग्य नहीं जान पड़ा. घूंघट के मुख में—उसमें भी नववधू के—उन्हें बड़ी ही मधुर कविता जान पड़ने लगी. कला को छिपाना ही—रहस्य को रहस्य बनाये रखना ही—तो कला है. संसार में जहां कहीं सौंदर्य है, वह उन्हें आवरण के ही अंदर छिपा हुआ दिखाई देने लगा.—वही तो उसके लिए उचित स्थान है. केवल तड़के बहुत ही तड़के. जबकि संसार की आंखों में कोमल झुटपुटे का परदा पड़ा रहता है, छिपते हुए चांद की छाया में, कली अपने हृदय का गूढ़ रहस्य खोलती है. उषा के कपोलों में, चुपके से, लाज की प्रथम लालिमा दौड़कर छिप जाती है—दिन के पूर्ण खुले प्रकाश में सौंदर्य?

रामकुमार की मां पुरखिन का कर्तव्य जानती थी. बेटे के, एक पढ़े-लिखे लड़के की तरह, बार-बार स्पष्ट कह देने पर भी मां ने अपने मन में शिक्षित वधू से ऊंचा स्थान सुंदरी वधू को ही दिया. बहू पढ़ी-लिखी न हो, तो फिर भी पढ़ायी जा सकती है, अंगों में दुबारा लावण्य तो भरा नहीं जा सकता. मनश्चक्षुओं को कुछ भी पसंद हो, चर्म-चक्षुओं को जो अच्छा नहीं लगता, उसका सुंदर लगना और नयी उम्र में, असंभव न होने पर भी कठिन ही है. कल्याणी इस बार-बार परखी हुई बात को कैसे भुला देती? शिक्षा का सौंदर्य देखने के लिए समय चाहिए, धीरज चाहिए—शरीर की सुंदरता तो आते ही बोल उठती है—देखो, मैं हूं.

मूक सौंदय और स्वरित सौंदर्य के अधिक जांच-पड़ताल करने की आवश्यकता कल्याणी को नहीं थी. एक तो स्त्री, मां, उस पर प्रौढ़ अनुभव प्राप्त. जो एक सर्वसम्मत, सर्वनिर्दिष्ट संसार है, उसकी वह कैसे उपेक्षा करती? नब्बे प्रतिशत पुरुष और निन्यानवे सैकड़ा स्त्रियां संसार का एक ही अर्थ समझती हैं. उनकी धारणा ही नहीं, पक्का विश्वास है कि चिरकाल से इस संसार शब्द को मनुष्य ने अपने अनुभव के तराजू में तोल, मन के खरल में घोंट, बुद्धि की कपड़छान कर, उससे जो अर्थ, जो निचोड़ निकाला है उसका एक शब्द में सारांश है—चर्म-जगत. यह त्वचा की सृष्टि है, इसमें शरीर का प्रथम स्थान है. मोटी आवश्यकताओं की पूर्ति पहले होनी चाहिए. मिट्टी के बदन को सूंघ-चाटकर ही इस मिट्टी के मनुष्य की तृप्ति होती है—यही सनातन रीति चली आयी है. घर-द्वार, जमीन-जानवर, संतान-संपत्ति और सुंदर-स्त्री—यह सब है, तो भगवान की कृपा है. जो इससे बाहर कुछ कल्पना भी करता है, वह संसार से ऊपर उठ गया. उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, स्नेहदृष्टि से नहीं. ठीक भी है, माया कहते हैं, इस सुंदरता के माया-पाश से मुक्त होना क्या आसान है? विदुषी स्त्री को अपने सुंदर न होने की कमी खटकती रहती है, और सुंदर स्त्री बिना विद्या के सहज ही निभ जाती है. लोग कहते हैं–'भई मानसिक सौंदर्य को हम ऊंचा स्थान भले ही दें, परितृप्ति सुंदर अंग ही देते हैं.'

एक रोज बेटे के सिर में तेल लगाते हुए माता कल्याणी ने पूछा, "क्यों रे राम, मेरी चांद-सी बहू तेरे पसंद आयी कि नहीं?"

स्पष्टभाषी लड़के ने कहा, "आयी क्यों नहीं मां, अपने राम के लिए तुमने जो सीता खोजकर ला दी."

बहू के रूप-लावण्य की बात को प्रश्नातीत समझकर, लग्गे से लड़के के हृदय की थाह लेने के लिए मां ने सहज ढंग से कहा, "कैसा मधुर स्वभाव पाया है, जैसे चांदनी छिटक रही हो. सभी कुछ जिसमें खिल उठता है. जैसा तू है, वैसी ही बहू भी मिल गयी. पानी की तरह खुद दब जाती है, दबाना किसी को नहीं चाहती."

माता की प्रसन्नता से मन-ही-मन प्रसन्न होकर बेटे ने श्लेष से कहा, "कह तो चुका हूं मां, एकदम सीता है. हर समय जमीन ही में गड़ी रहती है. केवल इस परदे के रावण से उसका उद्धार करना है, जिसने उसे पांच आदमियों की पंचवटी से हटाकर दूर अंध-संस्कारों की लंका में छिपा रखा है. इस अग्नि-परीक्षा में तुम्हीं उसे उत्तीर्ण करवा सकती हो मां!'

बेटे ने मां को समझाने के लिए राम-रावण की चिर-परिचित तुलना

कविवर सुमित्रानंदन पंत

▣ डॉ. रामकुमार वर्मा

मेरे उपवन में एक अत्यंत सुगंधित पुष्प विकसित हो जाये, और मैं प्रतिदिन देखकर उसके सौंदर्य की सराहना करूं—कुछ ऐसी ही अनुभूति पंत के प्रथम दर्शन में मेरे मन में उदित हुई. आज से 52 वर्ष पूर्व जब मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में बी. ए. का विद्यार्थी होकर हालैंड हाल में आया, तब मैंने पंतजी को उनके बड़े भाई श्री देवीदत्त पंत के साथ देखा था. सुंदर, सुकुमार शरीर, सिर पर लंबे-लंबे केश, लंबी नासिका, पतले होंठ और मधुर वाणी में उनका व्यक्तित्व ऐसा लगता था जैसे हमारे छात्रावास में दीप-शिखा का आलोक फैल गया है.

हमारे छात्रावास में प्रतिवर्ष 'कान्वोकेशन' के अवसर पर अंग्रेजी-हिंदी नाटकों का प्रदर्शन हुआ करता था. उन नाटकों में संगीत संयोजन करने का दायित्व कटरे के संगीतज्ञ नीलू बाबू और पंडित सुमित्रानंदन पंत पर रहा करता था और हम लोग विभिन्न पात्रों की भूमिका का निर्वाह करते थे. उस समय नाटकों में संगीत एक आवश्यक अंग होता था और उसी की पूर्ति के लिए पंतजी और नीलू बाबू सहयोग दिया करते थे. नीलू बाबू बहुत अच्छे हारमोनियम वादक थे, और उस पर वे अनेक प्रकार के राग निकाला करते थे तथा पंतजी उन रागों के अनुसार गीतों की रचना किया करते थे. कभी साहनी, कभी जैजैवंती, कभी वसंत और कभी केदारा. ये गीत प्रायः स्त्री-पात्रों के द्वारा गाये जाते थे, जिनका अभिनय उस समय सुमुख और सुकुमार लड़के किया करते थे. उस समय बंगला के नाटकों के हिंदी अनुवाद और राधेश्याम कथावाचक के नाटक ही अधिकतर

अभिनीत होते थे.

एक बार राधेश्याम कथावाचक का नाटक 'वीर अभिमन्यु' हुआ था जिसका अभिनय उस समय प्रयाग में होने वाले सभी नाटकों में सर्वश्रेष्ठ समझा गया था. उसमें किसी स्त्री-पात्र के लिए पंतजी ने एक गीत की रचना की थी, जिसकी पंक्तियां मुझे अभी तक याद हैं. "पलकन पग चूमूं आज पिया के, हंस-हंस पूछूं हाल जिया के." बहुत दिनों तक स्वयं पंतजी इस गीत को बड़े मधुर स्वर में गाया करते थे. ताल स्वर के साथ गाते समय उनकी भाव-मुद्रा अत्यंत मोहक हो जाया करती थी. उनके उस संगीत-ज्ञान और आकर्षक व्यक्तित्व ने मुझे बरबस आकृष्ट कर लिया और मैं उनके समीप आने का प्रयत्न करने लगा. धीरे-धीरे उनसे आत्मीयता बढ़ी और तब मैं उन्हें अपने कमरे में चाय पीने के लिए आमंत्रित करने लगा.

इस आत्मीयता के पीछे उनके काव्य के प्रति मेरा आकर्षण भी था. मेरे विश्वविद्यालय में आने से पहले ही 'सरस्वती' के मुखपृष्ठ पर उनकी रचनाएं प्रकाशित हुआ करती थीं. वे कविताएं एक नयी शैली की होने के कारण मेरे हृदय में उत्सुकता उत्पन्न करती थीं. नये छंद, नयी उपमाएं, नये प्रतीक, नये बिंब जैसे उनके काव्य को एक युगांतर का सूत्र बनाने का उपक्रम कर रहे थे. 'अनंग' शीर्षक एक कविता में उन्होंने लिखा था: "मेरे मानस तरंग में पुन: अनंग बनो साकार."

मैं इस कविता को पढ़कर हंस पड़ा. मैंने कहा कि जो कामदेव भस्म हो गये हैं, यह कवि उसे साकार करने के लिए अपने मानस में एक तरंग उठा रहा है. न जाने यह कवि कितना भृंगारपूर्ण होगा और यह कितने विवाह करेगा. लेकिन जब मैं प्रयाग आया तो मालूम हुआ कि श्री सुमित्रानंदन पंत अविवाहित हैं. उन्होंने मुझसे कहा कि मैं सदैव ही अविवाहित रहूंगा. □

को और भी आगे बढ़ाकर परदे और रावण में पूरा-पूरा सादृश्य दिखला दिया.. कहा, "मां, यह परदा और रावण एक ही पक्षी के दो पंख हैं. दोनों मनुष्य की पाशविक आकांक्षाओं के चिह्न-स्वरूप हैं. जिन स्थूल लालसाओं के दशमुख से, विश्व-माता का आसन देने के लिए, सीता के उद्धार की आवश्यकता समझी गयी थी, उन्हीं वासनाओं की दृष्टि से स्त्री को बचाने के लिए इस परदे का भी जन्म हुआ है. जिस तरह कबूतर आंखें मूंदकर बिल्ली के मुंह से नहीं बच सकता, उसी प्रकार इस परदे की अंध दीवार के भीतर प्रकाश नहीं पल सकता. समस्त सभ्य संसार सौंदर्य को अनिलातप की उपज, प्रकाश की प्रसूती मानता है."

कल्याणी को यह समझने में देर न लगी कि केवल उसी की सम्मति न पा सकने के कारण बहू अपने स्वामी की आज्ञा-पालन करने में आना-कानी कर रही है. उसके केवल संकेत कर देने से ही, राम, इस चिरकाल से अलंघ्य नारी-लज्जा के समुद्र में, बाहर-भीतर आने-जाने के लिए, अनायास ही पुल बांध सकेगा—इसीलिए मानो वह उसकी सहायता का प्रार्थी हो रहा है. कल्याणी, स्नेहशील मां की तरह, बहू के मामले में अपनी इच्छा से लड़के की इच्छाओं का अधिक मूल्य समझती थी. अतएव एक रोज बहू की ठोढ़ी पकड़कर सास ने बड़े ही स्नेह से कहा, "तू अपने इस लावण्य में इतनी अधिक लाज कहां से लिपटा लायी बहू. इस बड़े घर में बाहर-भीतर सर्वत्र तुझे देख सकूं, यही तो मैं चाहती हूं री." सास ने सखी बनकर चुपके से यह भी संकेत कर दिया कि उसका स्वामी अपनी स्त्री की इस अतुल सौंदर्य-राशि को इस अकेले-से घर में समा सकने के लिए बहुत ही बड़ी समझ, अपने इस अपार्थिव लाभ की प्रसन्नता और अधिकार के गर्व को जैसे सर्वत्र फैला देना चाहता है. चकित-संसार की आंखों की प्रशंसा का और कृतज्ञ मुग्ध अंतकरण से स्नेह-आदर का पुरस्कार न प्राप्त करना वह नवीन दंपत्ति के प्रति इन अंधरूढ़ियों का अन्याय और अत्याचार समझता है.

सरला संकोच के मारे मर-सी गयी, और मन-ही-मन अपनी इस देवी स्वरूपा सास की भूरि-भूरि स्तुति करने लगी.

रामकुमार की शिक्षा को सौंदर्य का सम्मोहन अधिक समय तक परास्त नहीं कर सका था. प्रथम मिलन की स्वप्नमयी संध्या में, देश-काल की आवश्यकता से परे, प्रेम के प्रथमोच्छवास की सतृष्ण दृष्टि से देखने में घूंघट के आवरण में जो सुंदरता दिखलाई दी थी, इन्हीं चार-पांच महीनों में धीरे-धीरे, नवीनता के माधुर्य के मिटते ही वह भी लुप्त होने लगी थी. रामकुमार को सरला का मुख घुली हुई मिश्री की डली-सा, चिकना-चुपड़ा और मधुर दिखाई देता—उसमें रूप, रंग, रेखाएं, सब रहतीं. केवल भाव, केवल व्यंजना, केवल स्वर नहीं मिलता, या रामकुमार उसे देख पाता. बादलों के परदे से प्रभात की तरह उस लावण्य ग्रह से एक प्रकार का मानसिक तेज फूट नहीं पड़ता था. सरला तो पत्थर की प्रतिमा न थी, तब रामकुमार कैसे संतुष्ट रहता?

हमारे समाज ने अपनी अबला स्त्री के चारों ओर जो सूक्ष्म-स्पष्ट रेखाएं खींचकर उसके लिए जो स्थान नियत कर दिया है, जो दृढ़ मर्यादा चिरकाल से बांध दी है, उसे हम जिस प्रकार दूर से देख सकते हैं, हमारी नारी उस तरह अपने को उससे अलग कर, नहीं देख सकती—वह शिक्षित हो अथवा अशिक्षित उस संकीर्ण कारा में रहते-रहते उसे अपनी संकीर्णता का अनुभव नहीं होता. वे यम-नियम चिर-अभ्यास के कारण उसका स्वभाव बन गये हैं. उसकी आत्मा समाज के लिए अपने इस आत्म-समर्पण में खो गयी है. केवल हमारे नियम-बंधन उसके भीतर से हाथ-पांव बढ़ाकर, उसके विचार-व्यवहार, मान-मर्यादा, शील तथा स्वभाव के रूप में प्रकट होकर, हम से मिलते-जुलते और परस्पर एक दूसरे से संबंध बनाये रखते हैं, इसीलिए हमारी नारी सबसे अधिक वस्तु-जगत में रहती है. वह केवल सब कुछ मानकर चलती है. सभी नियम, सभी आचार, सभी संस्कार, सभी अंध-विश्वास उसके लिए स्पष्ट हैं, सत्य हैं. उन्हीं का संसार उसका संसार है.

रामकुमार सरला को केवल अपने आदर्शों की प्रतिमा बना देना चाहता था. उसके भीतर समाज के आदर्शों की जो चिरकाल से प्रतिष्ठित प्रति-मूर्ति यंत्र की तरह हंसती, बोलती और काम-काज चलाती थी, रामकुमार की आंखों में उसका असामयिक छाया-रूप अत्यंत खटकता था. सरला यह कभी नहीं भूलती थी कि वह ससुराल में है. यह बात घर में ताई ने उसके हृदय में पीड़ा होने तक पहुंचा दी थी. वह अधिक समय सास के पास बैठने, घर का काम-काज सीखने और सास की छोटी-मोटी सेवाओं में बिता देती थी, यद्यपि कल्याणी को बहू से सेवा लेना पसंद न था. रामकुमार को इन सब कारणों से पत्नी की इच्छानुकूल शिक्षा देने और बाहर के आकाश में शोभित होने योग्य मुख-चंद्र को घूंघट के घन-रोध से मुक्त करने का अवकाश नहीं मिलता था. सरला धीरे-धीरे चलती, धीरे उठती, धीरे बैठती और बहुत ही धीरे से बोलती थी. रामकुमार को इस मंद-गति, मंथर-विलास अथवा अवकाश-चेष्टा में रत्तीभर सौंदर्य या मधुरिमा नहीं मिलती थी. वह उसे मन-ही-मन सरला की मानसिक निर्जीवता, जड़ता, दीर्घ-सूत्रता और जाने क्या क्या समझता था.

जब रामकुमार का अभिन्न मित्र सतीश सभ्य संसार और उन्नत देशों की उर्वरा भूमि में प्रस्फुटित, विकसित और उनकी दीर्घ आयास अनुभूति से परिपुष्ट आधुनिक नारी का परिष्कृत आदर्श-रूप मित्र के सामने रखता तो उसके रूप-रंग की तुलना में कुमार को सरला का सौंदर्य बिल्कुल फीका, नीरस और निस्सार लगने लगता था. सतीश साधारण कम्यूनिस्टिक टेंपरामेंट (स्वभाव) के अनुरूप अधिक-से-अधिक पक्षपात और घृणा व्यंजक शब्दों में मध्यवर्ग की सभ्यता का जैसा खंडन करता, इन भद्दी बर्बर प्रथाओं की जैसी ऐतिहासिक व्याख्या देता, संसार के भविष्य का जो स्वर्ण-चित्र खींचता, और श्रमजीवी रूस की स्त्रियों के स्वतंत्र जीवन का जैसा अतिरंजित दृश्य आंखों के सामने खड़ा कर देता, उसे कुमार बड़े ही ध्यानपूर्वक और कभी-कभी मुग्ध-भाव से सुनता था.

वाह, वह उन्मुक्त अनिल और उज्ज्वल आतप में पली हुई स्वतंत्र नारी मूर्ति. निर्मल आकाश जिसके नयनों को नित्य नवीन नीलिमा प्रदान करता है, सद्य: स्फुट सुमनों का सौरभ जिसकी सांसों में बसता है, पक्षियों का कलरव कंठ में कूक भरता है, उषा जिसके कपोलों में गुलाब बन जाती है, बार-बार स्वच्छ जल में तैरने से जिसके अंगों की तनिमा और सुकुमारता में सजीवता आ गयी है, छहों ऋतुएं जिसके सौंदर्य को प्रस्फुटित करने के लिए अपना सर्वस्व निछावर करती रहती हैं—वह सबल, स्वच्छ, सुंदर स्त्री के रूप का आदर्श जिसका मानसिक सौंदर्य अपनी ही अधिकता में फूटकर उसे स्त्रीत्व को अपनी उज्ज्वलता में छिपा लेता है, उस स्वतंत्रता के आलोक में देह-ज्ञान जैसे छाया की तरह बिलकुल पीछे पड़ जाता है— वह प्रशस्त आदर्श इन अंधरूढ़ियों की संकीर्णता से परे है.

एक दिन, तीसरे पहर के समय जब दोनों मित्र बैठे हुए आपस में बातें कर रहे थे, सरला ने अपने नित्य के अभ्यास के विपरीत. मानो अपने जन्म-जन्मांतर के दुविधा-संकोच को एक ही क्षण में भगा, जिस सहज, संयत भाव से स्वामी के कमरे में प्रवेश कर, छोटी-सी मेज पर सुंदर ढंग से चाय का सामान सजा दिया, उसे देखकर रामकुमार मानों विस्मय और आनंद के मारे अवाक् हो गया. मानों रोज ही का अभ्यास हो, पास से अपने लिए कुर्सी खिसका, उस पर बैठ बात की बात में चाय तैयार कर और बड़ी ही स्वाभाविक, सरल मुस्कराहट से मुख को मंडित कर, उसने दोनों मित्रों के सामने दो प्याले तथा कुछ फल और मेवे रख दिए.

"तुम्हें भी साथ देना होगा, भाभी, जब देवता ने दर्शन दे ही दिये, तो इतना-सा वरदान भी दे जायें." भेंट को परिचय में बदलने के लिए सतीश ने हंसते हुए अपना प्याला सरला की ओर बढ़ा दिया.

सरला ने बड़े ही नि:संकोच भाव से चाय का प्याला सतीश को लौटा दिया और तश्तरी से कुछ मेवे उठाकर मुंह में डाल लिये.

"यह तो साथ देने का अभिनय भर हुआ." सतीश ने अनुरोध किया.

"देवता मृत्युलोक की सुरा पीने के आदी नहीं होते, फल-फूल ही ग्रहण कर संतुष्ट रहते हैं." —बेहुला की तरह बचकर, हंसी से छलकती हुई भाभी, अपने को न रोक सकने के कारण, अपनी ही नवीन वयस के फूलों से उमड़ते हुए सौंदर्य की लहर की तरह, एक क्षण में, कमरे से बाहर हो गयी.

"वरदान पाने के लिए अभी बहुत बड़ी तपस्या की आवश्यकता है—" उमड़ते हुए हृदय को मानों स्रोत देकर, हास्य से कमरे को भरते हुए कुमार ने प्रसन्नता की अतिशयता के कारण प्याले में और भी चाय उंडेल ली.

सरला का वह सहज संयत साहस रामकुमार के लिए वास्तव में बहुत ही प्रसन्नता का कारण हो गया था. जिस बात को वह अपने ही अस्तित्व से सहमी रहनेवाली अपनी पत्नी के लिए दुरूह ही नहीं, एक प्रकार से असंभव भी समझने लगा था, उसी को सरला ने चिरअभ्यस्त की तरह जिस आसानी से कर दिखला दिया, वह कोई साधारण बात न थी. रामकुमार विस्मित ही नहीं, चकित हो गया था कि उस अपनी ही दृष्टि की लाज से कुम्हला-से जानेवाले प्राणों में इतना साहस, स्वतत्रंता कहां से, कैसे आ गयी!

पर सरला के लिए वह सब उतना कठिन न था, नयी बात तो बिल्कुल भी न थी. छुटपन में ही मां की मृत्यु ने उसे पिता की गोद में दे दिया था. सरला के पिता उन लोगों में से थे, जिनमें सभी को अपनी ओर खींच लेने की क्षमता होती है. उन्हें देखकर मन में वही आनंदभाव उठता है, जो पूस के महीने में सांझ की स्निग्ध धूप से मंडित पहाड़ की चोटी पर दृष्टि पड़ने से. नगर के प्राय: सभी प्रतिष्ठित लोग उनके सौजन्य का उपभोग करने, शाम के वक्त, उनकी बैठक में एकत्रित हो जाया करते थे. उनके आदर-सत्कार का भार सरला के ही ऊपर रहता था. इस प्रकार पुरुष-समाज में बरती जानेवाली शिष्टता-सभ्यता से वह अच्छी तरह परिचित थी. और, लोगों के सामने निकलने में उसे झिझक या संकोच नाम को भी न था, लेकिन सरला को जहां एक ओर इतनी स्वतंत्रता थी, दूसरी ओर उसे वैसे ही कड़े शासन में भी रहना पड़ता था. गृहस्थी की शिक्षा उसे अपनी ताई से मिली थी. ससुराल शब्द का जिस संकरी-सी-संकरी जगह से अभिप्राय है, और स्त्री-जगत में ही क्या, जन-साधारण में भी जो फूंक-फूंककर पांव रखने का अर्थ प्रचलित है, उसे अनुभव की पीड़ा से असमय में ही प्रौढ़ ताई ने छोटी-सी बालिका सरला के मन में बैठाने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी थी. सास के शासन में जिस तरह बिलकुल सिकुड़कर कांटे की नोक पर रहना होता है, इसका अभ्यास भी भावी वधू को घर ही में करा दिया गया था. सास की भौंहों के साथ उठने-गिरने के साथ जिस तरह उठना-बैठना पड़ता है, इशारे पर जिस तरह रहना होता और उसकी उच्चारण-हीन चुप्पी के जिस तरह भिन्न-भिन्न अर्थ लगाने पड़ते हैं, उन सबको लड़की के कानों में इतनी बार डाल दिया गया था कि रेल की यात्रा के बाद उसके घर घर शब्द की तरह वे बातें सरला के मस्तिष्क में अपने-आप चक्कर खाती रहती थीं.

ससुराल में आकर सरला ने देख लिया था कि उसके यहां सास के शासन का पानी बिलकुल ही गहरा नहीं है. स्वामी के स्वभाव से भी धीरे-धीरे वह अच्छी तरह परिचित हो गयी थी. आरंभ में उसे जिस अति-रंजित शील-संकोच का अभिनय करना पड़ा वह नव-वधू का था, उसका अपना नहीं, लेकिन रामकुमार को तो वहू बनना नहीं था, इसलिए वह इस गुप्त सीख की बात नहीं जानता था. अस्तु, सास की अनुमति पाने के बाद सरला ने सहसा अपने जिस व्यवहार से स्वामी को प्रसन्न करने के साथ-साथ चकित भी कर दिया था, उसका यही रहस्य था.

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो पहले से ही चिर-परिचित-से लगते हैं, उनके हृदय में सभी कुछ समा सकता है. अंत:पुर की संकीर्णता में अपनी ही सुविधा का सामान होता है. बैठक का कमरा सभी के लिए खुला रहता है, उसके भीतर आने-जाने में किसी को असुविधा नहीं मालूम पड़ती. इसी प्रकार की उदार सार्वजनिकता, एक सर्व-

अनुभूति

□ सुमित्रानंदन पंत

तुम आती हो,
नव अंगों का
शाश्वत मधु विभव लुटाती हो!

बजते नि:स्वर नूपुर छम-छम,
सांसों में थमता स्पंदन क्रम,
तुम आती हो,
अंतस्तल में
शोभा ज्वाला लिपटाती हो!

अपलक रह जाते मनोनयन,
कह पाते मर्म कथा न वयन,
तुम आती हो,
तंद्रिल मन में
स्वप्नों के मुकुल खिलाती हो!

अभिमान अश्रु बनता झर-झर
अवसाद मुखर रस का निर्झर,

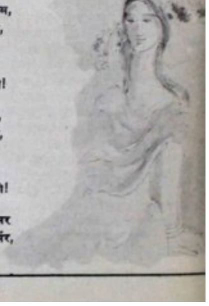

देशीय संस्कृति नवयुवकों के स्वभाव में प्राय: देखने को मिलती है. इसका कारण शायद यह हो कि उनके पांव अभी सांसारिकता की स्थल मिट्टी में नहीं गड़े होते. जो हो, सतीश में यह बात एक स्पष्ट और प्रत्यक्ष मात्रा तक थी. उसका उज्ज्वल हास्यमंडित मुख, उसके हृदय का दर्पण था. सभी देख लेते थे, वह साफ-सुथरा स्फटिक का बना हुआ है. फलत: नयी भाभी सरला भी थोड़े ही समय में सतीश से आत्मीय की तरह परिचित हो गयी थी. घंटों बैठकर दोनों आपस में बातें करते. सतीश की रसिकता बीच-बीच में अपना रंग देती रहती. उसकी परिहासप्रियता को अशिष्टता छू तक नहीं गयी थी. रामकुमार, कार्य न रहने पर भी, कभी-कभी उन दोनों को कमरे में छोड़कर स्वयं बाहर चला जाता था. इस तरह वह सतीश के प्रति अपने विश्वास का प्रमाण देना चाहता हो, यह नहीं—वह इस प्रकार की स्वतंत्रता को अस्वाभाविक अथवा अनुचित न मानकर मनुष्य के हृदय की संकीर्णता और क्षुद्रता को मिटा देने में अपना गौरव समझता था. मानव-स्वभाव दुरूहता के कारण संसार ने स्त्री-पुरुष के बीच जो छोटी-बड़ी रेखाएं खींच दी हैं, सीमाएं बांध दी हैं, उन पर विश्वास करना वह अपनी दुर्बलता समझता था. रामकुमार यह नहीं सोचता था कि यदि संकीर्णता सचमुच ही मनुष्य के भीतर हो, तो वह इस तरह नहीं मिटायी जा सकती. हां, भुलायी-छिपायी अवश्य जा सकती है.

लेकिन सब कुछ होने पर भी, सतीश जिस प्रकार सरला से एकदम हिल-मिल गया था, सरला उस तरह अपने को नहीं दे सकी थी. उसने एक सूक्ष्म-रेखा अपने बीच बनी रहने दी, जिसे सतीश नहीं देख सकता था. सतीश का स्फटिक बिलकुल स्वच्छ था, इसमें उसे रत्ती भर संदेह न था—और यही कारण था कि वह अपने स्वामी से उनके मित्र की प्रशंसा करने में कभी न थकती थी. यहां तक कि कभी-कभी रामकुमार, अपनी असावधानी के क्षणों में, उस प्रशंसा के उद्गम के बारे में संदिग्ध हो उठता था—लेकिन सतीश के स्फटिक में एक चकाचौंध भी थी, जिसे सरला नहीं समझती थी, और समझने का प्रयत्न करने में उसका हृदय, न जाने क्यों—डर जाता था. सतीश की स्वतंत्रता में सीमा न थी, या वह इतने आगे बढ़कर थी कि सरला के लिए उसे देख सकना असंभव था. वह निर्मल थी, पर उसका कूल न मिलने के कारण सरला को उसमें केवल दूर तक चमकता हुआ प्रसार-ही प्रसार दिखाई देता था, जिसमें सरला के उचित-अनुचित की दोनों सीमाएं बीच ही में डूब जाती थीं. इसीलिए उस चौंधिया देनेवाले प्रवाह में आंखें मूंदकर नहीं कूद सकी थी.

पर रामकुमार जो सतीश को इतनी अधिक स्वतंत्रता दे रहा था, उसका एक और भी कारण था. जब कुमार के सुधार-प्रिय हृदय में पहले-पहल अपनी पत्नी को मित्र-मंडली के सामने उपस्थित करने और खासकर सतीश से मिलाने की बालोचित उत्सुकता पैदा हुई थी, तब उसने बाहर की बैठक में, मित्रों के आस-पास, सरला के लिए कोई स्थान निश्चित रूप से स्थिर नहीं कर लिया था. उसने कुछ भी नहीं सोचा था कि इस स्वाधीनता की सीमा कहां पर रखनी चाहिए. और इसकी आवश्यकता भी नहीं, लोकाचार को, लोक-रीति को सभी जानते, सभी समझते हैं. सरला सनातन मर्यादा से बंधी हुई, अंत:पुर की देहली से बहुत आगे बढ़ आयी हो, यह बात न थी, स्वयं व्यवहार-ज्ञान-शून्य सतीश उनके बहुत समीप खिसक आया था. यह बात असुंदर न लगने पर भी भीतर-ही-भीतर कुमार को स्पृहणीय नहीं जान पड़ती थी. पर इस संदेहजनक भाव-परिवर्तन का कारण कहीं उसकी मानसिक संकीर्णता न हो, इसलिए कुमार उस पर कोई मत भी नहीं निर्धारित करना चाहता था, बल्कि उस भाव को अपने भीतर दबा देने के लिए वह सतीश की स्वतंत्रता को सीमित करने के बदले और भी ढील देता जा रहा था.

सतीश क्यों इस तरह की स्वतंत्रता ले रहा था—? हमें सतीश के मनोविकास को समझना होगा. कालेज के विद्यार्थी सतीश ने संसार का ज्ञान केवल इतिहास के पृष्ठों से संचित किया था, पर उसका ठीक-ठीक ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी न थे. हृदय के संस्कार, प्रबल होने के कारण उसने इतिहास द्वारा सत्य के आदर्श-स्वरूप का दर्शन करना चाहा था; फलत: उसका भावुक हृदय बड़े वेग के साथ साम्यवाद की ओर झुक पड़ा. साम्यवाद ने केवल ऐतिहासिक तत्त्वों का मनन कर संसार के कल्याण का मार्ग निश्चित किया है. उसने मनोविज्ञान को भी इतिहास के तीन डिग्री के कोण से देखा है. इसलिए उसका आदर्श साम्राज्य अथवा स्वर्ण-स्थिति की कल्पना भी केवल इतिहास के मनुष्य के लिए है. पूर्ण मनुष्य को देखने का उसने प्रयत्न ही नहीं किया. कहानी के संक्षेप-शब्दों में साम्यवाद केवल ऐतिहासिक आदर्शवाद है.

सतीश सुदूर भविष्य के अनिश्चित अंधकार में टिमटिमाते हुए उस आदर्श-लोक मधुरिमा की ओर आंखें गड़ाये अपने चारों ओर व्याप्त, कठिन सामाजिक बंधनों में बंधे हुए इस हंसते-बोलते, काम-काज करते हुए सत्य के प्रत्यक्ष रूप को मानों देख ही नहीं पाता था. इसीलिए जब वह अपनी बालोचित सरलता से अनायास सरला के सामने ही कह बैठता था कि संसार में साम्यवाद और स्त्री के सिवा रखा क्या है तो वह अनर्गल होने पर भी उसके मुंह से बुरा नहीं लगता था. वह बार-बार दुहराता 'मानव जाति के कल्याण के लिए कोई सत्य, सरल, संगत और साध्य पथ है तो वह साम्यवाद, मनुष्य के सुख, स्नेह, सौहार्द्र और सह-वास के लिए कोई सामग्री है तो स्त्री.'

प्रत्येक युग के सामने सत्य का जो आदर्श स्वरूप प्रस्फुटित और विकसित होता है, वह वर्तमान की दृष्टि से केवल कल्पनामात्र है. वह केवल भविष्य में ही कार्यरूप में प्रस्फुटित पल्लवित हो सकता है, क्योंकि परिवर्तन का अर्थ विकास है, और विकास कामरूप, स्वत: प्रवर्तित होता है. हमारे दैनिक जीवन के आचार-विचार में छना हुआ जो सत्य बरता जाता है, उसकी उपेक्षा एक व्यक्ति कर सकता हो, समष्टि-रूप से नहीं कर सकता, क्योंकि समाज के रूप में ही सत्य का विकास होता है, वह उसे नष्ट नहीं कर सकता. यही सामयिक सत्य समाज के कलेवर के भीतर बृहत चुंबक की तरह छिपा हुआ, उसकी कार्यकारिणी नाड़ियों को अपनी ओर प्रवाहित कर उन्हें एक सार्व लौकिक रूप देता रहता है.

सरला के जीवन में चाहे कोई सिद्धांत ज्ञान-रूप से कार्य न करता हो, वह समाज के अंतर्व्यापी इस चुंबक के दर्शन भी भले ही न पाती हो पर बाहर बरते जाने वाले सत्य के इस प्रत्यक्ष रूप का उसे अंत:प्रेरणा से सहज ही में आभास मिल जाता था. सत्य को सार-रूप में समझना उसके लिए जितना कठिन था, शब्द-रूप में देखना-सुनना उतना ही आसान भी था. यह लोकाचार में बंटा हुआ सर्वसम्मत सत्य, उसके सामने अज्ञात-रूप से खड़ा होकर उसके सतीश के साथ अच्छी तरह घुल-मिल जाने में बाधा उपस्थित करता था. सरला सतीश की स्वच्छता से एकदम तिलमिलाकर, उसे अपनी समझ से बाहर समझ, उससे सदैव अपनी रक्षा करती रहती थी. उसने दो-चार ही रोज के भीतर बाहर के कमरे में अपने लिए अपना स्थान अपने आप नियत कर लिया था.

सतीश आज सुबह गुलाब का एक बड़ा-सा लाल फूल लेकर रामकुमार के यहां आ गया था. यह गुलाब उसे रास्ते में मिल गया हो, सो नहीं, उसने खासतौर पर कल शाम से ही माली से कहकर इसे मंगवाया था. आज सरला का जन्म-दिन था. गहरे लाल रेशम की साड़ी पहने हुए, आकांक्षा से प्रदीप्त, उन्मुख ज्वाला की तरह, सरला ने ज्यों ही कमरे में प्रवेश किया, सतीश क्षण-भर के लिए उस नवीन सौंदर्य के आलोक से जैसे अभिभूत हो गया. वह उस समय बराबर बैठा तो कुर्सी पर ही रहा, लेकिन उसे ऐसा मालूम पड़ा कि वह एकाएक, भीतर-ही-भीतर, अपने स्थान से उठकर कुछ दूर आगे बढ़ा, फिर जैसे लौटकर बैठा हो.

आधुनिक बंगाल-स्कूल के चित्रों ने स्त्रियों के पहनावे के संबंध में जिस हल्के रंग का आदर्श सतीश के मन में स्थापित कर दिया था, उसके ठीक विपरीत सिर से पांव तक गहरे, चटकीले रंग के परिधान से भी सौंदर्य की छटा इस तरह गुनी होकर छिटक सकती है, यह सतीश ने पहले कभी नहीं सोचा था. इसलिए जन्म-दिन के उपहार स्वरूप उस लाल गुलाब को भाभी के हाथ में न देकर, सतीश ने सरला के सिर पर से साड़ी को सरकाकर, काले-काले बालों के सघन अंधियारे में उषालोक की तरह उस लाल फूल को उसकी चोटी में खोंस दिया. सरला का मुख संकोच के मारे गुलाब से भी अधिक लाल हो, क्षण-भर के लिए सफेद हो गया. उजड्ड सतीश रंग के इस चढ़ाव-उतार पर ध्यान न दे सकने के कारण परिहास के ढंग से भाभी को नीचे तक झुककर, सलामकर अपनी कुर्सी पर बैठ गया.

रामकुमार को पहले तो ऐसा मालूम हुआ, जैसे धुएं के भीतर से आग की लपट ने निकलकर उसके हृदय को झुलसा दिया है, पर वह शीघ्र ही सम्हल गया, और जब सरला ने गुलाब के फूल को चोटी से निकालकर मेज पर रख दिया और बायें हाथ से साड़ी को सिर पर डालते हुए करुण, पर संयत स्वर में कहा, "सतीश बाबू, आपके हाथ से कोई काम बुरा न लगने पर भी आपको इस तरह सहसा, बिना सोचे-समझे कोई काम नहीं कर डालना चाहिए."—उस समय कुमार ने जैसे मन-ही-मन पत्नी के इस निर्देश का पूर्णरूप से समर्थन किया, यहां तक कि उसका सिर भी अपने आप हिलकर उसकी सम्मति जताने में नहीं रुक सका.

सतीश के मुख की हंसी कटी हुई पतंग की तरह, हृदय की डोर से अलग हो, होंठों पर चक्कर खाती हुई, जैसे वहीं-की-वहीं नि:स्पंद हो गयी. उसे मालूम पड़ा कि उसके सिद्धांतों और सत्य-ज्ञान के प्रतिकूल कुछ न होने पर भी उसके चारों ओर व्याप्त अंधेरे में आज तक छिपा हुआ कोई छाया-सत्य सहसा अपना अस्पष्ट हाथ उसकी ओर बढ़ाकर जैसे उसका गला दबा रहा हो. उसे जान पड़ा, सत्य-मिथ्या होने से ही कोई काम अच्छा-बुरा नहीं लगता, उसके और भी कारण हो सकते हैं. वह जैसे किंकर्तव्य-विमूढ़ हो. अपने स्थान पर, पत्थर की मूर्ति की तरह, ज्यों का त्यों बैठा रहा.

माली को खासतौर से हुक्म देकर उस लाल गुलाब के फूल को मंगवाने में सतीश का अभिप्राय केवल उपहार देने की प्रथा को निभाना था, अथवा उसमें और भी अंत:करण में छिपी हुई किसी अव्यक्त आकांक्षा की प्रेरणा मिली हुई थी—इसकी आलोचना करना हास्यास्पद है. संभव है कि सतीश के स्वभाव का नवयुवक सभी काम सोच-विचारकर नहीं कर सकता, तो क्या सरला में इतनी उदारता न थी? थी, पर नारी की मर्यादा. एक बार तो उसके जी में आया कि उस फूल को नोच-नोचकर फर्श पर बिखेर दे, यह नारी-स्वभाव की प्रेरणा थी, लेकिन सरला के शील ने नारी के उद्वेग को दबाकर उसे फूल नोचने से ही नहीं, मेज पर पटकने अथवा फेंकने से भी रोक दिया. उसने अपनी मधुर संस्कृति फूल को केवल धीरे से मेज पर रख दिया था. सरला को केवल अपने पत्नी होने की मर्यादा की रक्षा करनी थी.

स्त्री के और भी कई काम होते हैं, पर उसके जीवन का मुख्य काम—जहां उसे अपने स्त्रीत्व का सबसे अधिक अनुभव होता है—अपने अंत:करण में लबालब भरे हुए स्नेह को ठीक-ठीक, यथारीति से बांटना है, इसमें वह सबसे निपुण होती है. वह अपने प्रति किए गए समस्त उपकारों को स्नेह से ही पुरस्कृत करती है, पर उसके स्नेह में मात्राओं का भेद होता है. वह साथ ही कई आदमियों को अपना स्नेह दे सकती है. पर किसी को कम, किसी को अधिक. उसका मानदंड, उसका नापने का गिलास कैसा होता है, इसे कोई नहीं कह सकता.

सरला सतीश से कम स्नेह नहीं रखती थी. जब उसने सतीश के चिर-हास्य-मंडित मुंह की हंसी को वृतच्युत पुष्प की तरह, उसके संपूर्ण मुख-मंडल से अलग होकर केवल होंठों के बीच मुरझाते हुए देखा, तो उसके अपने स्नेहार्द्र हृदय में असीम व्यथा का अनुभव होने लगा. यहां तक कि वह अपने उमड़ते हुए आंसुओं के वेग को न रोक सकने के कारण चुपचाप कमरे से बाहर चली गयी.

किंतु सबसे अधिक क्षुब्ध और आहत हुआ रामकुमार. अपनी जिस दुर्बलता के ऊपर राख डालकर वह भीतर-ही-भीतर दबा देना चाहता था, वह आज उस लाल गुलाब के रूप में अंगारे की तरह सुलगकर उसे संताप पहुंचाने लगी. रामकुमार ने देखा कि जन्म-जन्मांतर से संचित अपने इस पति होने के संस्कार को जैसे वह किसी तरह नहीं मिटा सकता. यही नहीं, उसका यह संस्कार अपने इस अधिकार का उससे अधिक-से-अधिक उपयोग करवाना चाहता है. उसे प्रतीत होने लगा कि सरला को बाहर के संसार में ले जाने की आकांक्षा में भी उसके इसी संस्कार की प्रेरणा छिपी थी कि चार आदमियों के सामने उसका यह अधिकार-गर्व सार्थक और अधिकार-तृष्णा संतुष्ट हो सके. रामकुमार ने देखा कि सबसे बड़ा अवगुंठन उसकी आत्मा के ऊपर पड़ा हुआ है, पत्नी का वह अवगुंठन केवल उसकी छायामात्र है. अपने हृदय के अवगुंठन को हटाये बिना वह पत्नी के सुख-स्वाधीनता का उपभोग नहीं कर सकता. उसने उठकर सतीश को गले लगा लिया और बड़े ही व्यथित भाव से कहा, "मुझे क्षमा करो सतीश."

सतीश इस क्षमा-याचना का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझ सका. उसने मुसकुराते हुए बाधा दी, "स्त्रियों की तरह बर्ताव मत करो कुमार."

सरला जब चाय का सामान लेकर अंदर आयी तो दोनों मित्रों को प्रसन्न देखकर उसके हृदय का भार हल्का हो गया. उसे प्रतीत हुआ कि उसके भीतर छिपे हुए कुमार को ही मानो वह चोटी छूने का व्यापार बुरा लगा था, उसे नहीं, और सतीश का फूल संदेह के कांटे से सर्वथा ही शून्य है. यह बात अपने-आप ही उसकी अनुपस्थिति में मानों सिद्ध हो गयी है.

सरला ने जल्दी से उस लाल फूल के ऊपर चा-पोची डालकर चाय तैयार कर दी. तीनों मित्र नित्य की तरह चाय पीने लगे. उस बिना नशे के प्याले में परिहास का रंग खासा रहा. □

...

क्या तुम्हारा भी परिचित है?
आदि महीदास स्मृति से टकराते हैं,
भूमिदासों की स्मृति की यंत्रणा
हमारे चैतन्य पर छाया आकाश है.

तुम लोग नये हो, कालांतर में
आते-जाते क्या चेतना बांध लेती है?
बीस-बाइस वर्षों के इतिहास ने
क्या काल की गिनती की है?
तुम्हारे नये सुख में बाधा दी है?

तुम लोग नये हो, शायद इसीलिए
प्रवास से जान-पहचान नहीं हुई?
अपने घर में नितांत अनजान तुम
आजन्म प्रवासी हो, इसीलिए स्वदेश की
नाना स्मृतियां ही तुम्हारा विलास हैं?

दुनिया की हाटों में खरीदा हुआ
अर्द्ध-परिचित प्रबल उच्छ्वास,
अनात्मीय नव्य प्रतिभास
फिर भी जान लो, हमीं तुम्हारे परिचित हैं.

वह देखो, अचानक सोलह मंजिली इमारत खड़ी हो गयी है.
शायद पंद्रह मंजिलें हों या क्या पता सत्रह,

धरती आसमान का तमाशा,
मानो जिराफ ने या किसी महाकाय सरीसृप ने गर्दन उठा ली हो,
और चारों ओर जल हाथी, घड़ियाल, सांप, लकड़बग्घे, गीदड़
दफ्तर गद्दी गुमाश्ते बढ़िया फर्श बिछाकर जमे हैं,
बेढंग, बेतरतीब, बदसूरत,
कलकत्ते के माथे पर कलंक.

इधर नकली गाथिक उधर कोरिंथियाई, आयोनाई, डोरियाई इमारतें
केंसलन का विलायती खत
पर कुछ भी हो, काल की उर्वर-मिट्टी में अहमक साहबी शौक के सहारे
अभ्यास का थोड़ा-सा प्रसाद जरूर पड़ा था,
बंगाल का हाईकोर्ट, गंवारों का अजायबघर
यहां तक कि लाटसाब का महल भी आंखों की आदत बन गया था.

बंगला कविता

स्मृति सत्ता भविष्यत्

विष्णु दे

और चोरी के साम्राज्य की देशज सड़कों पर
अलियों-गलियों में घिचपिच गंदी बस्तियों की रौनक म
चाहे मनोहर कुछ न हो पर आंखें टिक गयी थीं
निकम्मे घर के लाडले उल्लुओं की, बूढ़े-बूढ़े शालिकों के झुंडों की,

टैगोर के बाद वास्तव में विष्णु दे ही बंगला के सबसे बड़े कवि हैं. इन्हें छोड़ दूसरा कोई कवि नहीं है जो मानव की समग्रता और संसिद्धि की परिकल्पना के प्रति इतना दृढ़ विश्वास दिला सका हो, कोई नहीं है जो संपूर्ण मानव की संभावनाओं से संबंधित आधुनिक चेतना को इनसे अधिक प्रभावपूर्णता के साथ प्रस्तुत कर सका हो. सामाजिक लक्ष्य की दिशा में अद्यावधि अनुपलब्ध अनुभव और भुवन में उनके साहस और कायरता, सिद्धांतानुयायिता और विरोध, ज्ञानागम और उसके आयातित मूलहीन आदेश के हमारे आधुनिक इतिहास के संकट काल में विष्णु दे ने सत्य के प्रत्यक्षीकरण का कार्य संपन्न किया है जो अर्थपूर्ण भी है और आदर्श भी, और जो उनकी विलक्षण कविता के माध्यम से पूर्ण सत्यनिष्ठा के साथ प्रकट हुआ है.

'स्मृति सत्ता भविष्यत्' शीर्षक कविता में समसामयिक प्रासंगिकता की अद्भुत प्रभावपूर्णता के साथ टैगोर की एक सुप्रसिद्ध कहानी को विषय वस्तु का उपयोग किया गया है. विषयवस्तु एक विचित्र विवाह समारोह की है जहां सभी आयोजनाएं पूरी की जा चुकी हैं, केवल वर नहीं है. वर एकमात्र जिसके तादात्म्य में ही समारोह की पूर्णता हो सकती है. कहानी के माध्यम से चलती हुई कविता, एक नयी अंतर्दृष्टि के साथ, हमारे अपने भीतर और बाहर सब कहीं व्याप्त तादात्म्य के संकट को व्यक्त करती है. इस कविता में भय चिंता और शोषण के विरुद्ध कवि के ऐकांतिक संघर्ष और मानव सत्ता के सौंदर्य और गौरव के लिए उसकी अनवरत खोज की छाप अंकित है.

(1971 के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार समर्पण समारोह के अवसर पर प्रकाशित स्मारिका से)

...बाबुओं के कानून-कायदा के ढंग पर, खुशहाली और तंगी में.

कलकत्ते की संकरी नीची धरती ने फिर भी शचीश को, विनय को थोड़ा-सा रस दिया था, थोड़ी-सी धूप दी थी. फिर भी गोरा ने और अन्यान्य स्वदेशी लड़कों ने
कलकत्ते को पहचाना था, स्वस्थ और संपूर्ण स्वाधीन होना चाहा था.

आज तो बस एक तरफ है अधमरों का विकार
और दूसरी तरफ है स्वांग भरा प्रलाप, निर्बोध निष्ठुर अमानुषिक अमद्र.
कौन किसे धिक्कारे अठारहों मंजिलों पर?
जब देश भर में चारों ओर निहायत फिजूल का
उन्माद और विलास से भरा खेल चल रहा हो!
धूप की चोट करो, बाढ़ भेजो, हे सूर्य, हे चैतन्य आकाश
यह रोज-रोज का अपघात दूर करो,
इससे तो अच्छा है, इस दग्ध दिन में सालानपुर के युगांत का श्मशान भेज दो!

जी खोलकर उससे घृणा करें, इसका कोई उपाय नहीं दीखता,
प्राणों के मोहल्ले में उसकी कोई जगह नहीं है,
जब वह चोरगलियों में घूमता है तभी शायद वह दिखाई पड़ता है,
घर या सभा का वह मुखिया नहीं है.
शहरी जंगल में जब वे हैवानी आंखें दिखती हैं.
तब यह ठीक है, मैं डर से चौंक उठता हूं.
पर इसी कारण मैं उससे घृणा करूं, मुझमें इतना दम नहीं,
वन्य पराजय में हार कहां है?
जानवर तो आखिर जानवर ठहरा, उसमें कितना ही जोर क्यों न हो,
मन की दुनिया में उसकी जगह कहां है?
उसके नाखूनों में मौत जरूर है, अर्थहीनता में असह्य
और आकस्मिक, इसीलिए तो हम जय चाहते हैं.
इसीलिए तो मन में जय की तस्वीर है, इसीलिए तो जय का गीत गूंजता है,

हम आकस्मिक का पाप मिटा देना चाहते हैं.
पर क्या इसीलिए हम उससे घृणा करें, बराबरी के बिना ही?
पैरों के पास सांप घूमता हो सकता है,
आसपास चौखट पर या कमरे के कोने में भी हो सकता है, बिच्छू हो या जोंक,

प्राणों के लोक में चाहे उनकी जगह न हो,
यह भी ठीक है कि सांप को मारने पर घृणा से शरीर हहर उठता है,
जूते का भरपूर दबाव भी डाला जा सकता है,
पर क्या इसीलिए बिच्छू को बैठने के लिए घृणा का आसन दें,
जोंक को आखिरकार सभा-भवन में बुला लें?
घृणा के पत्ते तो हवा में झर जाते हैं, पर घृणा की मिट्टी है प्रखर प्यार
वही तो मूल है जिससे हम जीवन रोपते हैं, इसीलिए—
जो आदमी तो दूर, शेर भी नहीं, हम उसे क्यों मानें जिसके रीढ़ की हड्डी भी नहीं,
उसे हम घृणा का भी अभिशाप नहीं देंगे.

इस नरक में
लगता है, आशा नहीं है, जीवन की भाषा नहीं है
हम आज जहां पर हैं वह कोई गांव भी नहीं है, शहर भी तो नहीं,
न प्रांतर है, न पहाड़, न नदी, केवल दुःस्वप्न है,
वहां न मजूर हैं, न किसान,
हम आज जहां हैं वहां लगता है आशा नहीं है,
जीने की आशा नहीं है, जिलाने की भाषा नहीं है,
वहां लगातार महामारी है

...निर्जल अकाल में रात का लगातार आवाज
अब मर्म में नहीं पैठती, वहां क्रंदन भी मृत है
क्योंकि किसी को भी कोई आशा नहीं है
या फिर वह इतनी कम है कि कोई निराशा भी नहीं है.
चैतन्य की महामारी.

यहां सांझ-सवेरे अभाव मृत्यु अनाहार अपघात लगे रहते हैं
महीने पर महीने महामारी का चक्कर,
यहां न जंगल है, न हिंस्र पशु, न आदिम मनुष्य
न वानप्रस्थवासी उदासी संन्यासी
यहां सभ्यता नहीं है, हृदय सूखा पोखर है,
बुद्धि सड़ी नाली है, आंख-कान के बोध सब मानो चोरी के माल से भी बासी हैं,

यहां शायद कोई सर्वग्रासी नरक भी नहीं है.
कोई अगर हिंदी का बौराया कुत्ता है तो कोई अंगरेजी का घड़ियाल,
तरह-तरह के फालतू, तरह-तरह के शिकारी शिकार
फिर भी सबके सब गौण अचेतन या अर्धचेतन
नरक के भी व्यंग्यचित्र, मृत्यु के भी विकार.

नरक का दाह दो, नरक की आत्मग्लानि दो हे यमरूपी जीवन
आंसू दो बस्ती के घर-घर में, अवसाद भरी हड्डी-हड्डी में
मर्म में यंत्रणा की वाणी दो, फूल में फल में शाखों में पत्तों में नीली जड़ दो,
अभ्यस्त तिक्त क्षुब्ध के रूपांतर में प्राण भरो,
क्षिप्र प्रतिवाद में स्पष्ट वचन के चैतन्य की तीखी धार को
बैशाख की तपती धूप और झपटते अंधड़ के शोर में
जीवन-मृत्यु की गोधूलि की निर्मलता प्राप्त हो.

राजा की बेटी आज दफ्तर में जुटी है
राजा का बेटा काम की तलाश में है,
वे खूब जानते हैं कि आज के राजपाट में
वे कुछ भी नहीं हैं.
फिर भी वयस की उषा संकट में
लड़का सीढ़ियों पर बैठा सोचता है,
लड़की तो सचमुच राजा की बेटी है
पर वह तो राजा का बेटा नहीं है.
पार्क की बेंच पर या फुटपाथ पर
दोनों अक्सर बातें करते हैं,
बहुतों के भाग्य आज खुले हैं
बस उन्हीं के लिए उल्टा है.
इसीलिए तो बीच-बीच में राजा का बेटा
जुलूस निकालकर शोर मचाता है.
राजा की बेटी इसीलिए तो जी खोलकर
हड़ताल का गौरव ग्रहण करती है.
वे प्यार करते हैं, इसीलिए तो घृणा से
तन-मन में आग लग जाती है.
उनके अभाव की अग्निवीणा में
यौवन को जीवन मिला है.

थकान में क्या डर है?
दिन ढलने पर हम थक जायेंगे
कारखाने में ड्रिल, रंदा या तकुए पर काम खत्म करके
पतले, मोटे हाथों का संतोष
परिपूर्ण दिन की थकान
ध्यान और वास्तव के बीच नाव चलाते इस पार-उस पार

… में सम्मिलित होकर
दिगंत तक फैले खेत में ट्रैक्टर के दीर्घ अभिसार से
मिट्टी की जो थकान आसन्न फसल में फलती है
हम वैसी ही थकान चाहते हैं, श्रीमान्!
फिर उसके बाद सूर्य के संगाती के रूप में सूरज की तरह घर को वापसी
बांधवाली सड़क के बायें से, अस्पताल के दायें रास्ते के पार,
हर महीने भांति-भांति के झरे फूलों, झरे पत्तों को रौंदते हुए
दिन ढले पहाड़ के आमने-सामने से
चिड़ियों के संगीत से परितृप्त थकान में भरकर अपनी-अपनी गृहस्थी की ओर,
कोई गाने में कोई और आमोद-प्रमोद में,
बिजली की बत्ती की पढ़ाई में या सिर्फ स्निग्ध अवकाश में रम जाने के लिए.
या शायद बरामदे में बैठकर या लेटकर, खाट पर, तख्तपोश पर
विशा-जाल से आकाश के सीने पर चांद का विकास देखते रहना,
किस तरह हर पखवारे प्रकृति के कौतुक से हंसिये-सा चांद अमावस्या या पूर्णिमा में ढलता है.
थकान में क्या डर है? श्रीमान्, यह वह थकान थोड़े ही है,
आवारा समाज के बेकसूर ग्रामशहरों की थकान बड़ी थकन भरी होती है
ज्ञान और वास्तव में एक-से विन्यस्त जीवन के कर्म में थकान नहीं होती वैसा
हम सभी वैसा थकान भरा अवकाश चाहते हैं.

सभी जानते हैं रवींद्रनाथ की वह कहानी :
सारी तैयारियां हो चुकी हैं, आंगन में मेहराबदार मंडप तन गया है.
भट्टी चेत रही है, ड्योढ़ी पर की शहनाई
शुद्ध स्वरों से हवा में तैरती सर्वत्र व्याप्त है,
भंडार में पकवान चिने हैं, तरह-तरह के सरंजाम से
भीतर का कोठा भर गया है, दहेज का अंबार लगा है,
पड़ोसिन सहेलियां उत्कंठा से शोर कर रही हैं,
बच्चे मस्त खेल रहे हैं, निस्संदेह कन्या की छाती भी
आग्रह और आवेग से धक-धक कर रही है, शादी के लिए सभी कुछ तैयार है.
यहां तक कि बाराती भी आ पहुंचे हैं, भीड़ लग गयी है,
शंख बजने ही वाला है, सुहागिनों के पान रचे होंठों से
गीत-लहरी उठने ही वाली है,
सिर्फ वर नहीं है—
यह रवींद्रनाथ की कहानी है, कवि ने गजब के रूपक से
हम सभी के जीवन की तस्वीर आंक दी है,
मर्मभेदी और बड़ी अद्भुत—
शादी की सब तैयारियां हो चुकी हैं,
यहां तक कि बाराती भी आ पहुंचे हैं, सिर्फ वर नहीं है—
या शायद वे बाराती न हों, सबके सब बाराती न हों,
उस भीड़ में चोर हैं, जुआरी हैं, नामी-गिरामी या नगण्य,
तरह-तरह के भिखारी भी हैं, कोई बाबू तो कोई साहब,
आत्मा के द्वार पर, मन की सड़क पर
समाज के घूरे की सफाई-खोरी पर चढ़े सत्ता के भिखारी,
बीमार, फिर भी गंदी बस्तियों के वासी नहीं, आढ़त में दफ्तर में गद्दियों पर डटे,
तन-मन प्राण से बीमार, पर शायद धन या क्षमता से नहीं—
तरह-तरह के बाराती हैं, सिर्फ वर नहीं है.
वर सत्ता खोजता फिर रहा है, अपना आत्म-परिचय
खेतों में, गंजों में, बंदरगाहों में वह अपनी सत्ता खोजता है, अपनी शिनाख्त
पांच जनों के दर्शन में, समाज के आदर्श प्रतिबिंब में,
उसे अपनी सत्ता नहीं मिलती, जो बस फूल की तरह
धूप-वर्षा-छाया में मिट्टी से
जड़ों शाखों पत्तों के प्राकृतिक वाद्यवृंद में फूट उठती है,
उस फूल की तरह जिसकी सत्ता मिट्टी में, धूप-वर्षा में, जड़ों-शाखों में निहित है,
यहां तक कि फूलदान में सजे होने पर भी.
तभी तो आज हमारी सत्ता नहीं है, घर में या सभा में, बैठक में या चायखाने में,
फूलदान की बौद्धिकता में भी नहीं, लाख कोशिशों के बावजूद.
यह उपमा बहुमुखी है, अनेक स्तरों पर इसका प्रयोग सरल है
व्यक्ति के लिए, समाज के लिए, देश के लिए,
देश, सोचो तो, सुजला सुफला यह मलय-शीतला मां, यह देश
छिन्न-भिन्न, फिर भी प्राचीन परिचय में सत्ता के चैतन्य का धनी
प्रज्ञा में संहत, स्मृति के मूल से धन्य, काल के बगीचे में
पर फिर भी विच्छिन्न, चकनाचूर, हजारों दागों से घायल, विकल
मानो देह सब कुछ तो हो, सिर्फ स्नायु और स्नायु कोष
अमुक्त, अस्वस्थ, कटे हों, शत-शत स्नायु कोष निकम्मे हों,
तभी तो हमारे मन में, यथार्थ जीवन में कबंध बिखरे पड़े हैं,
बंगाल में हजारों तरह के हजारों राक्षस, तरह-तरह की छल-क्षमता के कौशल वाले.
तभी तो आत्मपरिचय नहीं है, व्यक्ति नहीं है, सत्ता नहीं है,
लाल-नीले कमलों के देश में आज वर नहीं है,
विधवा के देश में चढ़ती उमर की सुंदरी के लिए वर नहीं है, सत्ता नहीं है.
जिस सत्ता का स्वप्न मानव-सभ्यता चिरकाल से देखती आयी है
आदिम कबीलों के युग से साम्राज्यों के युग तक.
उसी की व्यथा असामान्य क्षमता के चरणों में लाकर डाल देती है.
मिथ्या लोभ, गलत आत्माभिमान, जिस तरह साम्राज्यलोलुप जर्मनी ने
रिल्के के निःसंग युग में नाजियों के दुःस्वप्न के चरणों में चढ़ा दिये थे.
न जाने कितने यंत्रणा से दुर्जय सुंदर सिंफनी क्वार्टेट लिखे थे,
न जाने कितने यंत्रणा बधिर बिथोवेन, सैकड़ों वाग्नरों के आर्त नादयुनाद से
न जाने कितने नीत्शे, कितने होयलडेरलिन उन्मत्त हो गये थे

उन दिनों के इतिहास में दिखाई देता है कि इस लोभ में आकर विलायत में
विश्वव्यापी साम्राज्य के कल्पतरु की छाया की एकता निर्मित हुई थी.
कल्पतरु आज सूख गया है, तभी तो इंग्लैंड के उत्तर में पश्चिम में स्वायत्त शासन की मांग है,
तभी तो बहुतों को लगता है कि जनन मैथुन मृत्यु इन तीनों के बावजूद इंग्लैंड में भी शांति नहीं है.
वे सोचते हैं वे हरिजन हैं, स्थापित या विस्थापित, न तो उनका दाय है न दायित्व.
दूसरी ओर, इसीलिए आज दिखाई देती है सत्ता की समस्या,
सामूहिकता के सीमित सत्य के, साम्य के मुख्य के महादेश में,
इस देश में, उस देश में, देश-देश के व्यक्ति के मुकुल में.
हम सम्राट नहीं हैं, विलायत की अभिजात दुर्गति
स्वप्न में भी हमारे भाग्य में नहीं, यही नहीं, फ्रांस के मांदारिनों का-सा सुख भी
जो मोटे तौर पर एक सेज से दूसरी सेज तक के विलास में सीमित है,
अल्जीरियाई अवसाद में अस्तित्व की बीट की खोज,
सो भी नितांत असार इस पाप-पुण्यहीन देश के
जलते दिनों, बुझी रातों में—वह भी हमारे भाग्य में नहीं.
हम नरक में हैं, यद्यपि हमारे मन में इसकी चेतना नहीं है
तभी तो विवाह मंडली के प्रच्छन्न नरक में आज वर नहीं है,
फिर भी राजा की बेटी और राजा का बेटा नरक की ड्योढ़ी पर
रास्ते में तैयार खड़े हैं अपने स्वागत की प्रतीक्षा में,
सिर्फ स्वभाव के कारण वे प्रतिष्ठा चाहते हैं, प्रतिवाद में,
प्राण चाहते हैं, मान चाहते हैं, अभयवर चाहते हैं, वे ही तो वर-वधू हैं.□

आत्मावलोकन : एक

'सारिका' के इस अंक से हम यह नया स्तंभ शुरू कर रहे हैं, जिसके अंतर्गत गत चौबीस वर्षों में 'सारिका' में प्रकाशित कहानियों में से प्रत्येक वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कहानी पुनर्प्रकाशित करेंगे, जिस पर एक वरिष्ठ रचनाकार की टिप्पणी भी रहेगी. इस बार प्रस्तुत है 'सारिका' के फरवरी, 1961 अंक में प्रकाशित 1983 के ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता कथाकार की यह उत्कृष्ट कथा और इस पर वरिष्ठ रचनाकार विष्णु प्रभाकर की टिप्पणी.

कन्नड़ कहानी

उपनिषद् का जन्म

मास्ति व्यंकटेश अय्यंगार

आसपास के आश्रमों में बड़ी गरमागरम चर्चा थी कि महर्षि द्वैपायन आरुणेय अपनी आयु का सौवां वर्ष पूरा करने वाले हैं. सुनते ही सब लोग उनके दर्शन के लिए आने लगे. कुछ यह देखने के लिए कि इस अवस्था में बूढ़ा कैसा दीखता है, कुछ यह देखने के लिए कि मृत्युंजय व्यक्ति कैसा होता है और कुछ केवल असूया भाव से.

अधिकांश व्यक्तियों की यह धारणा थी कि महर्षि वामदेव बड़े ज्ञानी, महान योगी और परम दृष्टा हैं, किंतु महर्षि वामदेव ने प्रकट में चार लोगों के सामने न तो कोई बात कही थी और न किसी को कोई उपदेश ही दिया था.

महर्षि का जन्म आरुणे वंश में हुआ था. अपने पिता की सेवा में रहकर ही उन्होंने तत्वोपदेश पाया था और बहुत छोटी अवस्था में ही ज्ञानी हो गये थे. पिता की मृत्यु पर आश्रम का स्वामित्व उन्हें ग्रहण करना चाहिए था, किंतु उन्होंने वह पद अपने भाई को दे दिया और स्वयं तपश्चर्या में लीन हो गये.

उनकी तपश्चर्या का मुख्य भाग था आश्रम के उत्तरदायित्वों को संभालना, अपने भाई कुलपति के उपदेश देने के स्थान पर व्यवस्था करना, आश्रमवासी सब मनुष्यों, पशुओं और पक्षियों का योगक्षेम देखना, रात को सब के सो जाने पर स्वयं सोना और दूसरी सुबह फिर सबसे पहले उठकर नित्यकर्म आरंभ कर देना.

इस प्रकार अनेक वर्ष बीत गये. एक दिन वामदेव कुलपति के पास गये और वशिष्ठाश्रम देख आने की अनुमति मांगी. कुलपति ने उनके साथ दो नवयुवक भेजने चाहे, किंतु उन्होंने मना कर दिया. वे वशिष्ठाश्रम में कितने दिन रहे और कहां-कहां गये, कोई नहीं जानता. लगभग बारह वर्ष बाद वे फिर आश्रम में लौट आये. उस समय उनके दर्शन के लिए जो लोग आये, उन्होंने देखा कि उनका मुख और अधिक तेजोमय हो गया है. आते ही उन्होंने फिर वही काम शुरू कर दिया, जो पहले करते थे.

कई वर्षों के उपरांत उनके भाई का देहांत हो गया और लोगों ने समझा कि अब वे ही कुलपति का स्थान ग्रहण करेंगे, किंतु अपने भतीजे को उस स्थान पर बिठाकर वे आश्रम की पूर्ववत सेवा करते रहे. अपने रहने के लिए कुलपति की सहमति से उन्होंने सामने के वन में एक छोटी-सी कुटिया बना ली.

इस बात को भी कई वर्ष बीत गये. आसपास ऐसे बहुत कम लोग थे, जिन्होंने महर्षि के पिताश्री को देखा था. बाल्यावस्था के व्यक्तियों में से तो कोई भी नहीं बचा था.

महर्षि का जीवन बड़ा विचित्र था. उनके साथ सिर्फ दो व्यक्ति थे, किंतु न तो उन्हें शिष्य कहा जा सकता था, न सेवक, क्योंकि उन्होंने कभी उन्हें न तो उपदेश दिया और न अपने से हीन माना. उनके साथ वे समान-भाव से सेवाकार्य करते थे.

थ. पुरान वट-वृक्ष का कतार में अनेक फलों वाले वृक्ष लग गये थे. तपोवन के चारों कोनों पर चार कुएं थे. बीच में व्यास-पीठ और उसके सामने ही शिलापीठ, जिसके दोनों ओर छायादार वृक्ष थे. समस्त तपोवन की देखभाल महर्षि करते थे. वहां का कण-कण उनके स्पर्श से परिचित था. वन के फल-फूल समीपवर्ती ग्रामवासियों के उपयोग में आते थे. उनके आश्रम तक आने का कष्ट उठानेवालों को इनकी कमी कमी नहीं पड़ी. इसके बदले में वे दुधारू गायें आश्रम में छोड़ आते थे. दूध सूखने पर उन्हें ले जाते और दूसरी छोड़ जाते. यह आदान-प्रदान स्नेह से अनुप्राणित था.

महर्षि को बुढ़ापे में देखनेवालों की संख्या बढ़ रही थी. आगंतुक कभी-कभी गहन प्रश्न भी पूछते, उन्हें वाद-विवाद में खींचने का प्रयत्न करते, किंतु उसके उत्तर में वे सिर्फ इतना ही कहते, "अपनी बात को आधार बनाकर स्वयं सोचिए, सत्य की प्राप्ति हो जायेगी."

उनके इस अल्प भाषण से लोग नाराज भी हो जाते. कुछ उनके मौन को उनके अज्ञान का पर्दा भी मान बैठते, लेकिन कुछ ऐसे भी थे, जो यह कहते थे, "भई, शास्त्र की बात तो हम नहीं जानते, किंतु महर्षि को जीवन से बहुत ज्ञान मिला है."

उनके भतीजे का कहना था, "ताऊजी की बुद्धि बड़ी सूक्ष्म और तीव्र है. वे सब मतों को जानते हैं. वे सारा अध्ययन समाप्त कर ही आश्रम का काम करने लगे हैं."

महर्षि कहा करते थे कि अब वे नब्बे, पचानवे या निन्यान वर्ष के हो गये हैं. शायद यह बात सच थी, क्योंकि उनकी अवस्था का कोई व्यक्ति आसपास नहीं रह गया था. इतनी आयु हो जाने पर भी उनमें एक युवक की-सी शक्ति थी. मन की दृढ़ता अदम्य थी.

एक दिन जब कुलपति उनसे मिलने आये तो उन्होंने कहा, "अब मैं शीघ्र ही पूर्वजों के पास जानेवाला हूं."

"यह आप क्या कह रहे हैं?" कुलपति ने कंपित स्वर में पूछा.

"लोकधर्म का पालन करते हुए सौ बरस जियो—यह मेरे पिता की आज्ञा थी. उनकी यह आज्ञा ही आशीर्वाद बनकर अब तक मेरी रक्षा करती आयी है. सौ वर्ष पूर्ण हो जाने पर मेरी यहां कोई आवश्यकता नहीं रह जायेगी."

"सौ वर्ष कब पूरे होंगे?"

"इस चैत्र-पूर्णिमा को."

"हे भगवान, आप इतनी जल्दी हमें छोड़कर चले जायेंगे!" कुलपति रोने लगे. महर्षि ने उन्हें बाहुओं में भरकर गालों पर प्रेम से हाथ फिराते हुए कहा, "जाती तो मात्र देह है, मैं तो पूर्वजों के साथ सदैव ही तुम्हारे पास रहूंगा. कुलपति होकर तुम ऐसे क्यों रोते हो? शिष्यों को जो पाठ तुम सिखाते हो, उस पर आचरण करना ही तुम्हारा धर्म है."

कुलपति ने किसी भांति धैर्य धारण कर, दंडवत के पश्चात फिर पूछा, "आपने किसी को भी शिष्य नहीं बनाया. अब कम से कम मुझे तो शिष्य नाम से पुकारकर मेरा उद्धार कीजिए."

"जो किसी व्यक्ति को श्रेष्ठ समझकर इतना विनम्र हो सकता है, उसका उद्धार निश्चित है. तुम निश्चित रहो. पूर्वजों का धर्म इसी प्रकार पालते जाओ, तुम्हारा उद्धार अवश्य हो जायेगा."

"आप जो धर्म पालते आये हैं, उसे पालना क्या मेरे लिए दोष होगा?"

"मेरी देखी हुई भ्रांतियां जिन्होंने देख ली हैं, केवल वे ही मेरे आचरण का अनुसरण कर सकते हैं."

"आपकी भ्रांतियां क्या हैं?"

"वे भ्रांतियां उन्हें नहीं बतानी चाहिए, जिन्होंने उन्हें नहीं देखा. भ्रांतियां तब तक नहीं जातीं, जब तक उन्हें स्वयं नहीं देखा जाये. हमारा कर्तव्य तो विचार-पथ में सहायता देना है, संशयों और भ्रांतियों को जन्म देना नहीं. नकारात्मक धर्म ऋषि धर्म नहीं होगा."

■ मास्ति व्यंकटेश अय्यंगार: एक सौ पच्चीस से अधिक कृतियों के रचनाकार मास्ति का जन्म 6 जून, 1891 को एक गरीब परिवार में हुआ था. मातृभाषा तमिल है, किंतु लिखते कन्नड़ में हैं. 1969 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित. 'चिक्कवीर राजेंद्र' उपन्यास पर 1983 के ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित. मास्ति राष्ट्रभाषा हिंदी के हिमायती हैं.

"आपने यह बात पहले कभी नहीं बतायी. यह ठीक है कि आपने कोई संप्रदाय नहीं बनाया, किंतु आगे तो वह बनाया जाना चाहिए."

"नहीं, संप्रदाय का निर्माण सत्य का निर्माण नहीं है. अब तक जितना सत्य प्रकाशित हो चुका है, उसी का अनुष्ठान होना चाहिए. मेरे पास बतलाने के लिए नया कुछ भी नहीं है."

"लेकिन हमें तो ऐसा लगता है कि आपने जीवन में कोई अनोखा नियम अवश्य पाया है, क्या आप उसका मूल बता सकते हैं?"

"इसमें बताने की क्या बात है? मेरा आचरण अच्छा लगे तो अनुसरण करो. बात के बजाय काम करो."

तरुण कुलपति ने यह परिसंवाद आगे नहीं बढ़ाया. बात समाप्त करने की इच्छा से उन्होंने कहा, "अब तक मैं आपकी अधिक सेवा नहीं कर सका हूं. इस एक मास की अवधि में जहां तक संभव होगा, मैं आपके पास रहूंगा, आप मुझे मार्ग दिखलाइए."

महर्षि ने क्षण भर सोचकर कहा, "रह सकते हो."

"अंतिम दिन मैं आपके पास ही बैठा रहूंगा—यह प्रार्थना तो आप को माननी ही पड़ेगी."

महर्षि ने पुन: सोचकर कहा, "अच्छा."

दो दिन बाद कुलपति ने आकर कहा, "पूर्णिमा के दिन जो लोग आपसे मिलने आयेंगे, यदि उनमें से कोई प्रश्न करे तो आपको उत्तर देना ही चाहिए."

"अच्छा, ठीक है." कहकर महर्षि ने स्वीकृत दे दी.

एक महीना बीत गया. चैत्र-पूर्णिमा आ गयी. महर्षि नित्यकर्म समाप्त कर कुटिया के आगे मल्लिका के थाले को खोदकर ठीक कर रहे थे. दर्शनार्थी आने लगे. एक आगंतुक ने कहा, "क्या यह काम भी आपको करना चाहिए?"

"क्यों नहीं, यह काम मेरा ही तो है. जैसे मां, बच्चे को संभालती है, वैसे ही मैं इन तरु-लताओं का पालन करता हूं."

"इस संसार में ऐसा लिप्त होना ठीक नहीं. ममता तो मोक्ष के मार्ग में रोड़ा मानी जाती है."

"ममता रखना गलत नहीं है, ममता का अभिमान करना गलत है. प्रेम से काम करना ही सद्गति का एकमात्र मार्ग है."

"आज एक दिन तो आप आराम कर सकते हैं. यह काम हमें करने दीजिए."

"नहीं भाई, यह काम तो मुझे जरा भी कठिन नहीं लगता."

"आपके हाथों में मिट्टी लग गयी है."

"केवल हाथ ही मलिन हुआ है. आत्मा कर्म से लिप्त नहीं होती."

लोग इसी प्रकार आ-आकर महर्षि से भिन्न-भिन्न प्रश्न करते जाते थे. महर्षि वृक्ष के नीचे बैठ काल-सूर्य को देखने लगे. आश्रम का का एक बछड़ा उनके पास आया. उन्होंने एक मुट्ठी घास काटकर उसे खिला दी. आगंतुकों में से एक ने पूछा, "न मालूम, कब से ईश्वर के

अस्तित्व के संबंध में चर्चा होती आयी है, किंतु अभी तक इस समस्या का समाधान नहीं हो सका. क्या आप इस संबंध में कुछ बताने की कृपा करेंगे?"

महर्षि ने कहा, "भाई, समस्त चराचर सृष्टि ही ईश्वर है. सूर्य जिस प्रकार बहिर्लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार भगवान का प्रकाश अंतर्लोक और बहिर्लोक दोनों को प्रकाशित करता है. तुम स्वयं से यह प्रश्न करो कि यह संसार है या नहीं? यदि उसका उत्तर 'हां' में मिलता है तो इसका अर्थ है कि भगवान भी है."

"आपका कहना है कि हम जो कुछ देख रहे हैं, वह सब ईश्वर है?"

"हां, जो बाहर-सामने या अंदर है, वह सब भगवान है."

"तब क्या हमारे लिए ईश्वर से व्यवहार करना कठिन नहीं है?"

"कठिन होने का कोई कारण ही नहीं. जब यह समझ लोगे तो सब कुछ सरल हो जायेगा. किसी से भी तुम्हारा विवाद न रहेगा. उस समय तुम संतोष का अनुभव करोगे. तुम्हें स्वयं किसी चीज को जबरदस्ती लेने की इच्छा नहीं रह जायेगी."

एक दूसरे व्यक्ति ने प्रश्न किया, "मनुष्य गलती क्यों करता है?"

"क्योंकि मनुष्य यह नहीं जानता कि सारा लोक एक ही जीवन है. जो यह जानता है, वह यह भी जानता है कि दूसरों का किया हुआ अन्याय स्वयं का अन्याय ही है. सब दुष्कृत्य आत्म-हनन हैं."

"आपके अनुसार अपराध, अज्ञान के परिणाम स्वरूप होता है. क्या लोग जान-बूझकर अपराध नहीं करते?"

"उस वक्त समग्र ज्ञान में ही कहीं कोई त्रुटि रहती है."

"ज्ञान की त्रुटि से हुआ अपराध भी दंडनीय है?"

"अपराध करना स्वयं में ही एक दंड है. चेतन में प्रकाश के बदले अंधकार बढ़ जाते हैं."

अब एक जिज्ञासु आया. उसने कहा, "मुझे ब्रह्म का स्वरूप जानना है?"

महर्षि ने विचार कर कहा, "हां, अवश्य ही तुम इस विषय को जानने के योग्य हो. सुनो, तुम्हें बताता हूं-सर्वं खल्विदं ब्रह्म, जो पूर्वजों ने कहा था, वह अक्षरश: सत्य है. ब्रह्म को उसके पूरे-पूरे वर्णन के लिए असाध्य लगने वाली दो वस्तुओं को मिलाकर बताना चाहिए. जैसे, वह चलता भी है, स्थायी भी है, दूर भी है, वह सबके भीतर भी है, बाहर भी है, स्थिर होकर भी वह मनोवेग से उड़ जाता है. देवों के लिए भी उसे पकड़ पाना कठिन है. वह सबसे आगे रहता है. जैसे पर्वत के शिखर से गिरनेवाला पत्थर लुढ़कता हुआ चाहे जितनी दूर चला जाये, जमीन पर ही रहता है—लुढ़ककर जहां पहुंचता है, वहां भी वह जमीन पर ही रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी दौड़ने वाली वस्तुओं को प्रेरणा देता हुआ स्वयं निश्चल रहकर, सदैव साथ रहता है, साथ दौड़ता है."

इस बीच कुछ और लोग आ गये. उनमें से एक ने पूछा, "आप कहते हैं कि दया हमारा परम धर्म है; किंतु क्या दुष्टों पर भी दया दिखानी चाहिए?"

महर्षि ने कहा, "जो सब कुछ है, वह एक ही आत्मा है. सदैव प्रत्येक समस्या के समय इसी पर विचार करो. इस प्रकार बुरे के बारे में निर्वेद के स्थान पर सहानुभूति पैदा होगी. जब तुम्हारे पांव में कीचड़ लगता है तो उसे बिना कष्ट दिये धो डालते हो, क्योंकि तुम जानते हो कि तुम और तुम्हारा पांव अलग नहीं हैं. इसी प्रकार जीवन के अन्य विषयों में 'यह भी मैं हूं' की भावना जब आती है तो सहनशीलता निश्चय ही आ जाती है."

"सब मैं हूं, की भावना से क्या स्वार्थ नहीं बढ़ जायेगा और हम परोपकार नहीं भूल जायेंगे?"

"सब मैं हूं, की जब सिर्फ चर्चा होती है, तब ऐसा होने का डर बना रहता है, किंतु अनुभव होने पर नहीं. पांव को चुटकी भरने से, हाथ को हाथ से काटने से, मुंह को कुछ भी सुख नहीं मिलता. पांव को चोट लगती है तो हाथ उसको सहलाता है और हाथ के जलने से मुंह उस पर फूंक मारता है. एकता के विषय में बातचीत न कर, उस पर आचरण करना हमारा ध्येय होना चाहिए. इस प्रकार से जीने वाले जीव का मोह ही नष्ट नहीं होता, शोक भी नि:शेष हो जाता है."

"कहा जाता है, सब ब्रह्म है. इसका मतलब है, मैं भी ब्रह्म हूं. फिर भी मैं जीवन में संकट पाता हूं. इसका क्या कारण है?"

"बात यह है कि मैं ब्रह्म हूं, इसे आप एक तथ्य-मात्र समझते हैं, इसका अनुभव नहीं करते. जो व्यक्ति स्वयं को ब्रह्म समझता है, उसे इस अनुभव द्वारा स्वयं के निर्विकार तत्व से सिद्धि मिलती जाती है. फिर उसे देह का मोह नहीं रहता. वह विकारों की पकड़ से दूर एक शुद्ध तत्व हो जाता है."

मध्याह्न हुआ. महर्षि को जरा विश्राम देने के लिए कुलपति ने आगंतुकों का उनके पास जाना बंद करवा दिया. महर्षि ने कुछ पके हुए फल खाकर थोड़ा दूध पिया. फिर मुट्ठी भर अन्न के चार भाग कर चारों दिशाओं में रखवा दिये और स्वयं शिलामंच पर लेट गये. कुछ समय बाद चार नेवले आकर उस अन्न को खाने लगे. महर्षि संतोष से उन्हें देखते रहे.

सूर्यास्त हो रहा था. महर्षि, आश्रम के पश्चिम की ओर वाले मंच पर जाकर लेट गये और डूबते सूर्य की शोभा निरखने लगे. गंगा पार के कुछ व्यक्ति महर्षि के पास आये. उन दिनों विद्या-अविद्या, संसार-वैराग्य आदि विषयों पर खूब वाद-विवाद होते थे. विवाद करने वाले सभी विद्वान होते थे, इसलिए उसका अंत ही नहीं होता था.

आगंतुकों में से एक ने पूछा, "मनुष्य के लिए कौन-सी चीज मुख्य है—पराविद्या, जो पर का साधन है या अपराविद्या, जो 'इह' इस संसार का साधन है? क्या संसारी के लिए मोक्ष साध्य नहीं? यदि नहीं तो क्या मोक्षार्थी को विरागी ही होना चाहिए?"

महर्षि ने कुछ क्षण मौन रहकर कहा, "जो ज्ञान-अज्ञान के टंटे में पड़कर लोक को छोड़ देता है, वह कुएं में गिर पड़ता है. जो इह के मोह में ज्ञान को छोड़ देता है, वह भी कुएं में गिरता है. इह के व्यापार के लिए जो विद्या आवश्यक है, उसे पाकर श्रद्धा से यह जीवन बिताना चाहिए. संसार में रहकर ही वैराग्य का अनुष्ठान करना चाहिए; तब संसार बंधन नहीं होता और मोक्ष ही कष्ट साध्य रहता है. हम इसीलिए कष्ट भोगते हैं कि हम परस्पर पूरक वस्तुओं को परस्पर विरोधी बनाये रखते हैं. यह गलत है. जिस गुरु ने मुझे इस धर्म का उपदेश दिया था, वे महात्मा थे. उन्होंने जीवन की समस्याओं का समाधान पा लिया था. उनका यही उपदेश था, जो मैंने अभी बताया."

महर्षि की ध्वनि बहुत क्षीण हो गयी थी. शायद शक्ति कम हो गयी थी. उसके बाद जो दो-एक व्यक्तियों ने कुछ पूछा, उस पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया. सूर्य-देवता समस्त चराचर को अपनी लाली बांटते हुए अस्त हो रहे थे. संध्याकाल का मंद पवन बह रहा था. आश्रम के पेड़ों पर पक्षी कलरव कर रहे थे.

कुछ-कुछ स्वगत भाषण करने के ढंग में महर्षि ने कहना शुरू किया, "सूर्य का हिरण्मय पात्र जहां भूमि को प्रकट करता है, वहां वह दूसरी ओर आकाश को भी आच्छादित करता है. घर में रहने वाले को घर आश्रय देता है, मगर वह उसे मैदान से अलग भी करता है. इसी प्रकार जीवन के प्रवेश-द्वार को पार करनेवाले की स्थिति है. यह जीवन, दिन है. इसमें हम आधे सत्य को ही पा सकते हैं. . . सूर्यदेव अपने प्रकाश की यवनिका उठाओ, आज मैं सत्य को साक्षात् देखना चाहता हूं." कहते-कहते उन्होंने दोनों हाथ जोड़ दिये.

सबकी आंखों में पानी भर आया देखकर, वे बोले, "वायु अनिल अमृतं अथेदं भस्मांतकं शरीरम्." फिर 'ओम' की ध्वनि के बीच बार-बार अपने को संबोधित करते हुए बोले, "कर्तव्य का स्मरण करो, कृत का स्मरण करो, ध्येय का स्मरण करो, सिद्धि का स्मरण करो."

सूर्य पूर्णत: डूब गया था. पूर्व में सोलह-कलापूर्ण चंद्रबिंब निकलने लगा था. ऐसा लगता था कि पश्चिम का आग का गोला ही पूर्व में नवनीत-पिंड बन गया है. महर्षि ने अग्नि को नमस्कार किया और वैदिक ऋषियों की गायी गयी ऋचाओं का ध्यान करने लगे, "अग्ने नय: सुपथा

जिनका जीवन ही एक उपनिषद् था ▣ विष्णु प्रभाकर

ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त करने वाले श्री मास्ति व्यंकटेश अय्यंगार बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार हैं. सिविल सर्विस में सर्वोच्च पद पर पहुंचने के बाद मास्ति ने आज साहित्य का भी सर्वोच्च पुरस्कार प्राप्त कर लिया. उनकी मातृभाषा तमिल है, परंतु अपनी प्रतिभा और लगन से उन्होंने कन्नड़ साहित्य की जो श्रीवृद्धि की है, वह किसी भी भाषा के लिए गर्व का विषय हो सकती है.

सन् 1910 में उनकी पहली कहानी प्रकाशित हुई थी. तब से अब तक वे सौ से अधिक कहानियां लिख चुके हैं. भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी आस्था की थाह नहीं, लेकिन उपदेश देना उन्हें बहुत प्रिय नहीं है. वे जीवन के प्रति ममता पैदा करना चाहते हैं, कर्म के द्वारा.

उनकी प्रस्तुत कहानी 'उपनिषद् का जन्म' सही अर्थों में आधुनिक कहानी नहीं है. उसमें न द्वंद्व है, न भावों का घात-प्रतिघात. शोषण-उत्पीड़न भी नहीं है. वह उदात्त भावना से ओतप्रोत सहज बोधगम्य बोध-कथा है. चाहें तो व्यक्ति चरित्र कह सकते हैं, लेकिन अंतर्द्वंद्व जैसी वस्तु की झलक भी हमें नहीं मिलती. सब कुछ सहज भाव से, इच्छानुसार होता चलता है. तब संघर्ष किसका, किससे हो. पुरानी तकनीकी दृष्टि से भी कहानी का प्रारंभ, विकास और चरम-बिंदु जैसा कुछ भी नहीं है यहां. सब कुछ साफ-सपाट है.

प्राचीनकाल में आरुणेय वंश में एक महर्षि हुए थे. वामदेव उनका नाम था. सौ वर्ष की आयु पायी थी उन्होंने. परम ज्ञानी, दृष्टा और योगी थे. उन्हीं की यह कहानी है. अपने पिता की मृत्यु पर उन्होंने आश्रम के कुलपति का पद स्वयं न ग्रहण करके सहजभाव से अपने भाई को सौंप दिया और स्वयं तपस्या में लीन हो गये. लेखक के शब्दों में, "उनकी तपश्चर्या का मुख्य भाग था आश्रम के उत्तरदायित्वों को संभालने, अपने भाई कुलपति के उपदेश देने के स्थान पर व्यवस्था करना. आश्रमवासी सब मनुष्यों, पशुओं और पक्षियों का योगक्षेम देखना. रात को सब के सो जाने पर स्वयं सोना. और दूसरी सुबह फिर सबसे पहले उठकर नित्य कर्म प्रारंभ कर देना."

यही इस कथा का सार और संदेश है. भाई के स्वर्गवासी हो जाने पर भी वह कुलपति का भार नहीं संभालते, बल्कि अपने भतीजे को उस स्थान पर बैठाकर वे पूर्ववत् सेवा करते रहते हैं. वाद-विवाद में नहीं उलझते. हर प्रश्नकर्ता के लिए उनका एक ही उत्तर है, "अपनी बात को आधार बनाकर स्वयं सोचिए, सत्य की प्राप्ति हो जायेगी."

जब आयु के सौ वर्ष पूरे होने वाले हैं, वे अपनी मृत्यु की घोषणा कर देते हैं. उस समय कुलपति उनसे कुछ प्रश्न पूछते हैं. उनके उत्तरों में यही है कि नकारात्मक धर्म ऋषि-धर्म नहीं होता. संप्रदाय का निर्माण सत्य का निर्माण नहीं है. बात की बजाय काम होना चाहिए. अंत में कुलपति उनसे वचन लेते हैं कि यदि जीवन के अंतिम दिन जिज्ञासु लोग उनसे कुछ पूछें तो कृपा कर वे उत्तर अवश्य दें. वे प्रश्नोत्तर ही उपनिषद के जन्म का कारण बनते हैं.

● विष्णु प्रभाकर

किसी ने प्रस्ताव रखा था कि क्यों न उनके नाम से भी एक उपनिषद हो. उनका उत्तर था, "मेरे हाथ का लगाया हुआ नंदनवन ही मेरा उपनिषद है."

उनकी मृत्यु के बाद उनके उस दिन के उपदेशों को लेकर विद्वानों ने 'ईशोपनिषद' की रचना की. उपनिषद अनेकार्थ शब्द है. साधारणतः उपनिषद में रहस्यमयी रचनाएं हैं, जिनका मुख्य उद्देश्य वेद के गढ़ अर्थ को निश्चित करना है. मास्ति इस कहानी के माध्यम से यह निश्चित करते हैं कि "शरीर की परम सत्ता के प्रति सर्वोत्तम प्रार्थना कर्म है." महर्षि का पूरा जीवन इसी कर्म की व्यवस्था है. पद का मोह त्यागकर कर्म और सेवा के माध्यम से प्रभु को पाना ही उपनिषद है.

इस बोध-कथा को इसी रूप में लेना चाहिए. आधुनिक कहानी के तत्वों की तलाश करने पर कुछ हाथ नहीं लगेगा. कोई विपरीत रंग नहीं है इसमें. बीच-बीच में शंका और विरोध का स्वर उभरा जरूर है, पर बिना किसी प्रतिक्रिया के वह व्यर्थ और प्रभावहीन होकर रह गया है. □

राये. अस्मान विश्वानि देव वायुयानि विद्वान युयोध्यस्मज्जु-हुराणमैनो भूइष्ठांते नमः उक्तिम् विधेम."

पाठ समाप्त कर बहुत देर तक महर्षि ने आंखें बंद रखीं. कुलपति ने निकट आकर उनका पाद स्पर्श किया. तब उन्होंने आंखें खोलकर एक बार पुत्र की ओर, और एक बार चंद्रमा की ओर देखा. तारक-खचित आकाश को देखकर उनके मुंह से ये शब्द निकले, "यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि."

अनेक बार इन्हीं शब्दों को दुहराते हुए उन्होंने फिर आंखें बंद कर लीं. इसके बाद फिर उनकी आंखें नहीं खुलीं. आधी रात को उनका श्वास-प्रवाह रुक गया. और सुबह होने से पहले ही उनका शरीर ठंडा पड़ गया था.

वे लोग, जिन्हें महर्षि की जीवनचर्या मान्य नहीं थी, बोले, "क्या उपनिषद् यही सिखाता है? अधिक-से-अधिक इनके जीवन से गोपालन की शिक्षा ली जा सकती है."

अंतिम दिन दर्शनों के लिए आये हुए लोगों में से एक ने सुझाव दिया, "महर्षि ने अंतिम दिन जो बातें कही थीं, उनका संग्रह कर उपनिषद् के नाम से प्रचार होना चाहिए."

"मैंने इसी विचार से महर्षि से वचन ले लिया था कि अंतिम दिन हम जो प्रश्न पूछें, उनका उत्तर वे अवश्य दे दें." कुलपति ने कहा.

सुना गया है कि जब किसी ने उनसे पूछा कि क्यों न उनके नाम से भी एक उपनिषद् हो तो उन्होंने उत्तर दिया कि "मेरे हाथ का लगाया हुआ नंदन-वन ही मेरा उपनिषद् है." एक और अवसर पर उन्होंने कहा था कि "अलग से एक उपनिषद् क्यों चाहिए? ईशोपनिषद् है न."

कुलपति ने उस अवसर का भी स्मरण कराया, जब महर्षि ने शब्दों में अमृत-सा घोलते हुए कहा था, "मानव का उपनिषद् उसकी वाणी में है, ईश्वर का उपनिषद् लोक भर है."

इन सब उपदेशों के अर्थ लोगों पर बाद में प्रकट हुए. धीरे-धीरे देश के प्रख्यात से प्रख्यात विद्वानों का एक समागम कुलपति के तत्त्वावधान में जुड़ा. कुलपति ने महर्षि के सभी उपदेशों को एक-एक कर दुहराया. उन्हीं को लेकर एकत्र विद्वानों ने ईशोपनिषद् की रचना की—वह ईशोपनिषद्, जो सारे उपनिषदों का सार है. □

● अनुवाद : वसंत कवली

उड़िया कहानी

नाम याद नहीं

गोपीनाथ महांति

दसवें पुरस्कार से सम्मानित श्री महांति को समर्पित प्रशस्ति में कहा गया है—'आदर्श और यथार्थ के समन्वयी, शक्तिशाली उपन्यासकार श्री महांति के कथा-साहित्य का परिदृश्य अधिवासित है प्रायः पददलित हरिजन और मूक आदिवासी द्वारा, चिरशोषित कृषक और नगर-पले बाबूवर्ग द्वारा जो अस्तित्व-रक्षा के संघर्ष में ही निःसत्व हो रहता है . . .उनकी शैली में महाकाव्य की गरिमा है और भाषा में लोकवाणी की सरसता . . .'

प्रस्तुत है महांति जी की नवीनतम व्यंग्य-रचना—

हठात् एक दिन सुबह आठ बजे अशोक को आभास हुआ कि उसकी याददाश्त गड़बड़ा गयी है, उसे किसी का नाम याद नहीं रहता. अशोक सभ्य समाज का एक व्यावहारिक जीव है. शहर की सड़कों एवं गलियों में अकसर उससे मुलाकात हो सकती है. कभी खूब तेज गति से अपनी पुरानी हर्क्यूलिस साइकिल पर बैठकर भीड़ काटते हुए सांय से गुजर जाता है. स्वस्थ और सुंदर नौजवान, साइकिल चलाने में निपुण, साइकिल की पुरानी हैंडिल पर सफेद चकचक गोल घंटी, तांगे की घंटी की तरह आवाज करती है ढपण-ढपण. कभी पान की दुकान पर वह सिगरेट का पैकेट खरीद रहा होता, कभी रास्ता रोककर साइकिल पर पीठ टिकाकर दोस्तों के बीच खड़ा अपने राज्य की विभिन्न समस्याओं पर मुक्त कंठ से तेज तर्रार भाषण दे रहा होता, लोगों की राय सुन रहा होता. गोल गोरे चेहरे पर तितली-कट मूंछ के नीचे सफेद दांतों के बीच से रह-रहकर सिगरेट का धुआं निकालता रहता. दूर से ही पहचाना जा सकता है उसे. क्योंकि एकत्रित जनसमूह से वह कुछ लंबा है और उसका सीना चौड़ा है. कभी वह साइकिल पकड़े हुए सीना तानकर मार्च करने की मुद्रा में एक छोटे समूह के साथ पैदल जा रहा होता, एवं सभी जगह बीच रास्ते में, रास्ते के किनारे, मकान के चबूतरे पर से, चलती मोटरों में से एक जैसी आवाज आती, "नमस्कार, अशोक बाबू, नमस्कार, नमस्कार."

इसलिए हठात् यदि ऐसे व्यक्ति की याददाश्त क्षीण पड़ जाये और याद न रहे तो स्थिति निश्चय ही संकटपूर्ण हो जाती है.

हालांकि उसकी याददाश्त में और किसी तरह का परिवर्तन नहीं हुआ, सिवाय नाम भूलने के. परिस्थितियों को लेकर वह पूरी तरह सचेत था, उसका वैषयिक ज्ञान रत्तीभर भी नष्ट नहीं हुआ, पहले की तरह ही वह अपनी वकालत कर रहा है, थोड़ा-बहुत खरीद-बिक्री का व्यापार, कुछ राजनैतिक चर्चाएं, एवं उनसे संबंधित नाम भी नहीं भूला; पर्वत का नाम हिमालय, देश का नाम भारतवर्ष, नदी का नाम महानदी, उसी तरह देश के गण्यमान्य व्यक्तियों के नाम. बहस के दौरान अखबार में बड़े-

... खूब अच्छी तरह याद है. वह खर और खरे इन दो नाम के दोनों व्यक्तियों के बारे में अलग-अलग सब कुछ बता सकता है, उसी तरह कारिअप्पा और कुमारअप्पा के बारे में. लेकिन भूल जाता है आम लोगों के नाम, परिचित, दोस्त-यार, रिश्तेदार, सहपाठी, सहकर्मी, किसी से रुपये उधार लिये हैं तो किसी को रुपये देने हैं, इन्हीं रोज मिलने-जुलने वाले लोगों के नाम—जिनके बारे में वह सब कुछ जानता है. वे लोग उसके लिए खेर या खरे नहीं हैं, ना ही हिमालय या भारतवर्ष हैं, लेकिन सांसों में ली जाने वाली हवा की तरह, जीने के लिए अनिवार्य पानी की तरह वे लोग हर पल उसके आस-पास रहते हैं, पर उसे किसी का नाम याद नहीं.

सुबह आठ बजे का वक्त है. साग बेचनेवाला बूढ़ा आया है. चाय पीते हुए अशोक ने सिर उठाकर देखा. सिर पर तार-तार हुए कपड़े का साफा, छाती पर सफेद बाल, पेट पर बड़ा-सा दाद. यही तो है वह. पर इसका क्या नाम है? गोपिआ? मधुआ? जगुआ? नहीं. बूढ़े के बारे में वह सब कुछ जानता है. जानने का कारण भी है. सोचते ही दिखने लगती है उसकी दो कमरे की झोपड़ी. चारों ओर बना घेरा. मुहल्ले से अलग. बूढ़े की जवान बेटी को पति ने छोड़ दिया है. एक दिन बूढ़े ने कहा था—"बाबू, जरा मेरी बात भी सुनियेगा? मारपीटकर घर से निकाल दिया है, एक और ले आया है. उधर वह अनाप-शनाप खा-उड़ा रहा है, इधर यह उपवास से मर रही है. कान ऐंठकर खुराक-पोशाक वसूल देते, बाबू, तुम्हारा यश रह जाता, यह बूढ़ा दुआएं देता."

"ठीक है, किसी दिन तुम्हारे घर चलेंगे, लड़की से सारी बातें पूछकर ही उपाय करेंगे."

गया था, अभी तक याद है वह. भगवान लापरवाही से सड़ने को देता है इतनी सुंदरता. अनपढ़ लोगों के मन में देता है इतनी चतुरता? सालभर उससे संबंध रहा. खुराक-पोशाक का इंतजाम हुआ, और भी कुछ-कुछ मिलता रहा, लेकिन चेचक की चपेट में आकर एक दिन असमय ही मुरझा गया वह फूल. लड़की चल बसी. बूढ़ा अब भी साग बेचता है. उसकी याद भुलाये नहीं भूलती, पर उसका नाम क्या था? उमा, रमा, मल्ली, याद नहीं?

"अरे ए, ए बूढ़ा!"

नाम पूछेगा? न जाने क्या समझेगा बूढ़ा. साफ-सुथरे जितने भी बाबू हैं सबका मन ऐसा ही होता है; काम खत्म होते ही मन से बाहर! इतना स्नेह, आदर, इतने दिनों की सुख भरी यादें. मन के भीतर-भीतर. आज भी वह है. उसके बारे में सोचते ही आंखें भर आती हैं. उसका नाम याद नहीं. मन कहता है, पूछने पर बूढ़ा माफ नहीं करेगा. पीली-पीली धंसी हुई आंखें फाड़-फाड़कर वह देखेगा, जिस तरह देखा करता था, उसके दामाद की बात चलने पर.

"क्या, बाबू?"

बात कुछ बदलते हुए कुछ अतीत की यादों में बहते हुए अन्यमनस्क-सा अशोक बोला, "पूछ रहा था, करौंदा बेचने लाये हो क्या?"

"करौंदा? करौंदा तो कभी नहीं लाता, बाबू! इन दिनों करौंदा कहां? अभी तो फल के ही नहीं होंगे." आश्चर्य से बूढ़ा देखता रहा.

अशोक उठकर अंदर चला गया.

उसी समय से वह काफी बेचैन है. वाकई उसे नाम याद नहीं रहता. यह सिर्फ आज की बात नहीं है. सोचने पर लगता है, उसकी यह हालत पिछले कई दिनों से है. कल शाम किसी बड़े आदमी के घर पर पार्टी में आये किसी आगंतुक के आगे दो भद्र महिलाओं का परिचय कराते हुए उसने उन दोनों के पति का नाम उलट-पलट कर दिया था—ये हैं मिसेस विश्वनाथम, ये मिसेस परीक्षितन्." ठीक उसके मुंह पर मिसेस विश्वनाथम् चिल्ला उठी थीं, "आपने गलत कहा, मिसेस परीक्षितन् वे हैं." आगंतुक उसके चेहरे की ओर मुस्कराते हुए देख रहे थे, मानो वे उसे समझाना चाहते हों, अपरिपक्व ज्ञान का अंजाम.

उसके बाद आज सुबह यह बूढ़ा.

सिर्फ इतना ही नहीं, रास्ते में मिलनेवाले लोगों के नाम याद करने की कोशिश करता है, लेकिन किसी का नाम याद नहीं आता. जितना अधिक सोचता है, उतना ही अधिक भ्रम में पड़ता है. माधव बाबू खड़े हैं. पान खरीद रहे हैं. पांच महीने पहले दो किताबें पढ़कर लौटा देने के लिए ले गये थे, उसके बाद फिर मुलाकात नहीं हुई. अशोक चिल्लाया, "शंकर बाबू, ओ शंकर बाबू." माधव बाबू नहीं सुनते, तन्मयतापूर्वक पान लगवा रहे हैं, "अरे यह क्या, कत्था क्यों डाल दिया! दूसरा पान लगाओ. देखो, नकली जर्दा मत डाल देना." बार-बार 'शंकर बाबू-शंकर बाबू' कहकर बुलाने पर भी उन्होंने मुड़कर नहीं देखा. अशोक के पहुंचते-पहुंचते वे पान लेकर साइकिल के पैडल पर पैर रख चुके थे. आगे बढ़कर अशोक ने कहा, "क्यों साहब, बुलाने पर भी नहीं सुनते हैं? निश्चित ही कार्यव्यस्तता अधिक है?" मुस्कराते हुए माधव बाबू ने कहा, "काम की बात अब मत कहिए साहब, आप जैसा आजाद होता तो फिर बात ही क्या थी, चलिए, काफी दिनों के बाद मुलाकात हुई है. सब ठीक-ठाक है ना?"

"चल रहा है," अशोक ने कहा, "बुलाते-बुलाते जब जवाब नहीं मिला, तो सोचा आप भूल गये हैं."

"मुझे बुला रहे थे आप?"

"हां, खूब जोर-जोर से."

"हैरत है! तो फिर मेरे दोनों कान कहां गये थे? अभी थोड़ी देर पहले ही मैंने सुना, आवाज देता हुआ एक आदमी गया कि म्यूनिसपैलिटी के अहाते में गाय-बैल छोड़ने पर सरकारी बाड़े में डाल दिया जायेगा. उसके बाद सब्जीवाला आवाज देते हुए गया, 'पतली-पतली मीठी तुरई.' हां, भूल रहा हूं, कोई 'शंकर बाबू, शंकर बाबू' पुकारते हुए भी गया. शायद पीछे शंकर पानवाले की दूकान है; उसी को ढूंढ़ रहा होगा. आजकल तो सभी बाबू हैं, क्यों!—पर आपने मुझे कब बुलाया?"

अशोक के चेहरे पर पसीने की बूंदें उभर आयीं. पता चल गया, ये शंकर बाबू नहीं हैं. कुछ और नाम है. "छोड़िए," वह बोला, "मैं तो चिल्ला नहीं रहा था. आहिस्ता-आहिस्ता बुला रहा था."

"फिर भी सुनूंगा कैसे नहीं? कानों में असली सरसों तेल डालता हूं. जरा एक बार फिर बुलाइए साहब, आप किस तरह बुला रहे थे."

"चलिए जाने दीजिए. कुछ भी हो, आप कान में सरसों तेल डालते हैं. नाक में तो नहीं डालते ना? लीजिए सिगरेट. हां, क्या दोनों किताबें पढ़ चुके?"

"कौन-सी किताबें?"

फिर आफत. किताबों के नाम याद नहीं. "वे ही किताबें जो आप मुझसे पढ़ने को ले गये थे—यदि पढ़ चुके हों तो लौटा दीजिए. यदि न पढ़ी हों तो सात-आठ रोज और रख लें, कोई बात नहीं."

"बड़ी हैरत की बात है! अशोक बाबू, आप मेरा विश्वास कीजिए, मैं आपकी कोई किताब नहीं लाया. क्या नाम बतलाया आपने——मेरी सारी किताबें तो बैठक में होती हैं; फिर भी मैं ढूंढूंगा."

"खैर छोड़िए, आप किसी दूसरे काम से जा रहे हैं, नाम भूल जायेंगे. आप किस वक्त घर पर रहेंगे?"

"आज तो छुट्टी है, बाजार से होकर ग्यारह बजे के बाद से मैं घर पर ही रहूंगा. आप आइए. खुद भी ढूंढ़ लीजिएगा. शायद किताबें. लेकिन मुझे अच्छी तरह याद है, किताबें नहीं हैं. लाया ही नहीं, होंगी कहां से? फिर भी आप आइए. अच्छा, नमस्कार."

उनके चले जाने के बाद अशोक काफी देर तक उन्हें पीछे से देखता रहा. उसे गुस्सा आया, लोग बड़ी आसानी से चीजें दबा लेते हैं. दुनिया के उसूल के बारे में सोचकर मन ही मन क्रोधित होते हुए चला जा रहा था कि "अशोक बाबू, अशोक बाबू," की आवाज से उसकी अन्यमनस्कता टूटी. अति आग्रहपूर्वक दोनों हाथ आगे बढ़ाये हुए दौड़े चले आ रहे हैं बंधुवर. हंसी में सोने की तार से बंधे-लंबे-लंबे कीड़े लगे दांतों की छवि. सिर्फ एक हरा हवाई शर्ट, खाकी पैंट, सिर पर हल्के हरे रंग की चिपटी टोपी, हाथ में चमड़े का बैग.

"हलो,—हलो,—यूसी—यूसी—शोक बाबू, क्या सब चल रहा है, दुनिया की खबर क्या है, हाउ डू यू डू, सब ठीक है ना?"

जरा भी याद नहीं आ रहा, ये सज्जन कौन हैं, हालांकि चेहरा पहचाना-पहचाना-सा लग रहा है. अशोक का मन बुरी तरह सोचने लगा—ये कौन हो सकते हैं, याद नहीं आया.

इधर बंधुवर—खाकी पैंट की जेब से सिगरेट केस निकालकर उसकी ओर बढ़ाते हुए बोले, "कैसे हैं? यू सी—काफी अरसे के बाद. हैव फन, और सब ठीक-ठीक है न?"

▣ गोपीनाथ महांति जन्म : 4 अप्रैल, 1914 (उड़ीसा) 1962-66 कालावधि में प्रकाशित भारतीय भाषाओं के साहित्य के लिए समर्पित ज्ञानपीठ के वर्ष 1973 के पुरस्कार के सह-विजेता. उड़िया के मूर्धन्य साहित्यकार. पुरस्कृत उपन्यास 'माटीमटाल' सहित विविध विधाओं में लगभग तीन दर्जन पुस्तकें प्रकाशित, अनूदित, पुरस्कृत.

कौन है यह व्यक्ति? इतने अपनेपन से बातें कर रहा है. पहनावे, बातचीत करने की मुद्रा, चेहरे आदि से अशोक ने अंदाजा लगाया, यह कोई ए.सी.एस.ओ. है, संभवतः गढ़जात में पोस्टेड है. सी.एस.ओ. नहीं है, न ही सुपरवाइजर है, निश्चित ही ए.सी.एस.ओ. है. हठात इस निर्णय पर पहुंचने का कोई स्थूल कारण नहीं पा सका. किसी बात का अंदाजा लगाया जाता है, उसके बाद पूरे मन में हलचल मचती है, सोचता है, यही ठीक है, यही ठीक है.

"आपके कलक्टर कैसे हैं?"

"कलक्टर? ह्वाट डू यू मीन? यू सी कौन कलक्टर?"

यक-ब-यक अशोक का धैर्य छूट गया. ऐसा लगा यह व्यक्ति ए.सी.एस.ओ. भी नहीं है. तो क्या कोई ऐरा-गैरा है? या कोई इंश्युरेंसवाला है. कुछ पल बीत गये. अशोक ने खीझते हुए कहा, "माफ कीजिएगा साहब, जरा अपना नाम बताइएगा? मुझे याद ही नहीं आ रहा है."

बंधु ने मुंह लंबा करके सू-सू आवाज करते हुए दो मिनट तक हवा सोखी. बड़ी-बड़ी आंखें अशोक बाबू के चेहरे पर स्थिर करते हुए बोले, "गुड हेवेंस्—यू सी, कितने ताज्जुब की बात है. भूल गये? आपके छोटे भाई को ट्यूशन पढ़ाया था एक साल."

"कई लोग पढ़ाते थे..."

"हमने एक साथ लॉ की परीक्षा भी दी थी..."

"वह तो लगभग ढाई सौ लोगों ने दी थी."

"आपके पिता के साथ मेरी इतनी घनिष्ठता..."

"पिताजी के मित्रों की संख्या सुनेंगे तो आपको आश्चर्य होगा."

"उसके बाद कचहरी में मुलाकातें—क्या कह रहे हैं आप, आपको कुछ भी याद नहीं?" उनका आत्माभिमान अपमान की वजह से चीत्कार कर उठा, लेकिन अशोक की खीझ बढ़ती जा रही थी. साइकिल को अपने और करीब खींचते हुए उसने कहा, "लंबी कहानी को संक्षेप करते हुए कहिए ना साहब, आपका नाम..."

"ओ आई सी..." बंधु ने कहा, "मेरा नाम नील माधव दास है. आई.एस.एस. पाने के बाद इस वक्त कश्मीर कमीशन में हूं. फादर इन ला अचानक एक्सपायर हो गये ना, इसीलिए छुट्टी पर आया था, यू सी. लगता है आप भूल गये हैं? खैर, आपकी दया है—नमस्कार."

शर्म से आंखें झुक गयीं अशोक की. उसने कहा, "ओ हो, कितने दिन, कितनी रातें हम एक साथ रहे हैं! आप समोसा खाना पसंद करते थे ना, इसलिए पार्क होटल——नरीबाबू—और खैर—छोड़िए! सब कुछ याद है, साहब! आपको भला भूल सकता हूं? यह सुनकर आपको दुःख होगा कि मेरा नर्वस ब्रेक डाउन हुआ है. कुछ भी याद नहीं रहता. कहिए, क्या करूं?"

बंधु को मानो विश्वास नहीं हुआ. लौट पड़े. बोले, "नमस्कार."

कश्मीर पहुंचकर पत्र लिखिएगा, साहब!"

न सुनने की तरह बंधुवर चले जा रहे हैं.

उसके बाद रास्ते में हर रोज चारों ओर से "नमस्कार, नमस्कार," "कहिए अशोक बाबू, कैसे हैं?" आदतन उसकी ओर से भी प्रति नमस्कार, सुख-दुःख. लेकिन आज वह नाम ढूंढ रहा है, नाम नहीं मिलता. इनके साथ इतना संबंध, इतने दिनों की हंसी-मजाक, सुख-दुःख की जीवन यात्रा, लेकिन नाम याद नहीं आते! आशंका हो रही है, कहीं पुनः उस तरह की कोई समस्या न आ टपके, जबकि 'क' के नाम को वह 'ब' कह बैठे, इसलिए किसी को बुलाते समय वह नाम नहीं लेता, सिर्फ उड़िया संबोधन भर से काम चला लेता है—— "ए" "हे," "साहब,"——"

किताबें दोनों लेनी हैं. शायद यही उन साहब का मकान है? दरवाजे पर खड़े-खड़े अति उग्रतापूर्वक सोचने लगा. संसार में इतने सारे लोग; बगैर जनता की छत्रछाया के आगे नहीं बढ़ सकता कोई. एक से मनुष्य, एक ही आगाज-एक ही अंजाम, दावे को लेकर फर्क है; जितने भाई उतने घर, जितनी दुल्हन उतने दुल्हा, किंतु नाम याद रखे बिना कैसे चलेगा? नाम तो याद रखना ही होगा, लगे उसके लिए जितना ब्राह्मी घी, जितना टॉनिक, जितनी दवाइयां. नाम,——घूमती दुनिया के साथ, जनता के साथ एक ही बागडोर; उसे अटूट रखना होगा किसी भी उपाय से. लेकिन सोचते-सोचते यादें चटकने लगती हैं, भाप बनकर उड़ने लगती है उग्र केंद्रीयता. यही तो है शायद उन साहब का मकान!

उत्सुक निगाहों से कुछ देर इधर-उधर देखने के बाद अशोक ने सोचा, नाम क्या है? क्या नाम है उनका? किसी भी तरह दोनों किताबें उनसे वसूल करनी ही हैं. याद है——शहर के गणमान्य व्यक्ति हैं ये लोग; किताबें लेकर भूल जाना ही इनका स्वभाव है. इनसे दब गये तो व्यक्तिगत संपत्ति बचाकर रखना भी मुश्किल हो जायेगा. इसलिए ....

खूब तेजी से सोचने के बाद अशोक भूल गया कि बड़े शहरों में किसी के मकान पर पहुंचकर उन्हें बुलाने पर नाम याद रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती केवल एक शब्द 'बेहेरा' या 'पुजारी'. उसके बाद खुले बदन पर लुंगी पहने हुए कोई बाबू-स्वयं बेहेरा या पुजारी के रूप में आकर पूछेंगे, "क्यों साहब, किसे ढूंढ रहे हैं?"

नेमप्लेट दिख रहा है, अंग्रेजी में लिखा है 'एम. सी. महांति.' अशोक आश्वस्त भरी मुस्कराहट बिखेरते हुए उस ओर देखता रहा, लेकिन नाम याद नहीं आ रहा है. जीभ तक आकर लौट जाता है. एम.सी.——मनश्चंद्र, मोहनचरण, मानो एकाएक शून्य में रोशनी चमकी,——सही है, सही है——मार्कंडचरण—यूरेका! दंभ भरे गंभीर गले में अपनी पूरी आवाज समेटते हुए अशोक ने आवाज लगायी—"मार्कंड बाबू, ओ मार्कंडबाबू, मार्कंडबाबू घर पर हैं?"

खिड़की से किसी महिला की सूरत दिखलाई दी, वे आश्चर्यपूर्वक बाहर की ओर देखती रहीं. अंदर शायद किसी से कुछ कह रही थीं. कोई बाहर निकलकर आया, बगैर किसी औपचारिकता के कहने लगा, "यहां कोई मार्कंडबाबू नहीं रहते. आगे देखिए."

"क्या? यह मार्कंडबाबू का घर नहीं है? तुम क्या समझते हो उनका घर नहीं पहचानता? अंदर जाकर बोलो, अशोकबाबू आये हैं."

"कौन मार्कंड बाबू? आपको गलतफहमी हुई है. यहां कोई नहीं रहते. कह जो दिया—जाइए, आगे जाकर पूछिए." आगे और कुछ न कहकर

वाले, हे—इधर आ, इधर आ." उसकी इस हरकत से अशोक खीझ उठा. शहरी लड़का है, शहर के लोगों की बदमाशी अच्छी तरह समझता है अशोक. साइकिल पीठ से टिकाते हुए सीना पूरी तरह फुलाकर सामने की ओर देखकर बोला, "ए."

"क्या है?"

"तुमसे कुछ बातें करनी हैं."

"क्या बातें करनी हैं?"

"हां, तुम कौन हो जरा बताना?"

"मैं इस घर का नौकर."

"हूं, कितनी तनख्वाह पाते हो?"

"क्यों बाबू, मैं कितनी भी तनख्वाह पाता हूं उससे क्या मतलब?"

"मतलब है! गंवार नौकर रखने पर घर के मालिक का सब कुछ चला जाता है; बदमाश नौकर रखने पर सर्वनाश होता है. सस्ता नौकर रखना अंत में महंगा पड़ता है आदमी को. इस घर की एक-एक चीज की जानकारी है मुझे, जानते हो तुम? मजाक किसके साथ कर रहे हो? मुझे ही पढ़ाते हो कि यह घर मार्कंड बाबू का नहीं, एं? जानते हो तुम्हारा मालिक मेरा पुराना मित्र है. मेरा दोस्त है. बीच में कुछ दिनों तक हो यहां नहीं आ सका; वरना इस घर में बराबर मेरा आना-जाना था. यहां खुले में न जाने कितनी बार उठा-बैठा हूं. जिसका कोई हिसाब नहीं. क्या समझते हो तुम अपने को, मेरे ही साथ दिल्लगी?"

मकान की खिड़की की ओर देखने पर उसे बातें सुनाने की मन ही मन प्रेरणा मिली. अभी तक वहां वह चेहरा था. गुस्से में सानिध्य का परिचय देने के लिए मानो वह कुछ संकेत दे रहा हो. घर के नौकर द्वारा चिढ़कर "बताऊं अभी" "दिखाऊं अभी" कहकर प्रत्याक्रमण करते ही उसी खिड़की की ओर से एक धीमी आवाज आयी, "मेंगिया, मेंगिया सुन इधर."

अंदर जाकर पलक झपकते ही बाहर लौटकर बोला, "आपके मित्र मार्कंडबाबू इस मकान में कब रहते थे, मालकिन पूछ रही है."

अपरिचित व्यक्ति के आगे "मालकिन पूछ रही हैं" जोड़ने में उसकी जुबान थोड़ी भी नहीं लड़खड़ायी——अपने आत्मसम्मान के लिए. कोई भी हों मार्कंड बाबू, उसका इसमें क्या जाता है?

"यहीं थे, आज भी यहीं हैं." अशोक ने कहा, "अभी नौ महीने पहले ही तो मुलाकात हुई थी उनसे इसी मकान में."

खिड़की से पिच्च से पान का पीक बाहर गिरा. इस बार चेहरा बिलकुल साफ दिखायी दिया. अंदर से आवाज आयी, "मेंगिया, कह दो—हम लोग इस मकान में पिछले पांच साल से हैं. यहां मार्कंड बाबू कोई नहीं हैं. यहां माधवचंद्र महांति रहते हैं, नेमप्लेट में लिखा है, कह दे. . ."

अशोक ने अब पल भर भी इंतजार नहीं किया; साइकिल पर बैठकर चल पड़ा. अब तक की धुंधली स्मृति में हठात् सच का सूरज निकला है. वाकई! माधव बाबू ही हैं वे, एम. सी. महांति, हर रोज के परिचित माधव बाबू. कितना मूर्ख है वह स्वयं माधव को मार्कंड! खिड़की के उस पारवाला चेहरा दिख जाता है. मन ही मन शर्म आने लगती है, मानो वही चेहरा दूर धकेल रहा हो——हटो, दूर हटो.

दूर से दीख रहा है जैसे माधवबाबू स्वयं उससे मिलने आ रहे हैं. मुलाकात हो गयी होती तो शायद दोनों किताबें मिल सकती थीं. मित्रता की घनिष्ठता की वजह से वह मकान में घुस गया होता, तो? वही खिड़की . . . .

जाने दो किताबें, जः पलायति स जीवति.

अपने घर की ओर कुछ दूर चले जाने के बाद पुनः खिड़की के पीछे वाले उसी चेहरे की याद आयी और उसी के साथ एक और चेहरा—कमली, पड़ोसी की लड़की. बचपन से भाई कहकर बुलाती थी, कमली की शादी हो गयी है. इसके अलावा कमली की जाति अलग है, वह एम. सी. महांति की सहधर्मिणी नहीं हो सकती.

दो सितारों का जमीन पर मिलन

■ बी. आर. नारायन

कन्नड़ साहित्य की हीरक जयंती के समय की बात है. यह समारोह 1975 में बेंगलूर में आयोजित हुआ था. उसमें ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त श्री गोपीनाथ महांति पधारे थे. पुस्तक प्रदर्शनी देख रहे थे. उसी समय प्रदर्शनी में मास्तिजी भी अपने प्रशंसकों से घिरे हुए चले आ रहे थे. मैं महांतिजी से केवल इतना कह पाया कि मास्तिजी आ रहे हैं. इतने में दोनों आमने-सामने हो गये. मेरे मुंह से कुछ और निकलने से पहले ही महांतिजी उन्हें नमस्कार करते हुए, "मैंने आपका नाम तो सुना है पर दर्शन आज ही कर पाया. यह मेरा सौभाग्य है. आप मुझसे बड़े हैं. मुझे आशीर्वाद दीजिए." कहकर उनके चरण स्पर्श करने को झुके तो मास्तिजी ने उन्हें इशारे से रोका और अपनी चप्पलें एक तरफ उतार दी और उन्होंने महांतिजी से भी वैसा ही करने का संकेत किया. इसके बाद वे अपने दोनों पांव सटाकर खड़े हो गये. उस धूल भरी धरती पर महांतिजी ने मास्तिजी को लेटकर दंडवत प्रणाम किया. जब वे उठे तो उनके कपड़े धूल से लतपत थे. मास्तिजी ने उन्हें गले से लगा लिया और पीठ थपथपाते हुए बोले, "यह हमारी सभ्यता का प्रभाव है. आप महान हैं. और ऊंची चीजें लिखिए." महांतिजी की आंखों में खुशी से आंसू आ गये. वह एक अभूतपूर्व दृश्य था. □

लेकिन कितना सादृश्य है! जैसे वाकई कमली हो. सोचते-सोचते मन भर आता है; अतीत के फटकर मुरझाये हुए सभी पृष्ठ मानो फिर से हरियाकर अपनी जगह व्यवस्थित हो गये हों. महक उठती है चेतना—हू-ब-हू कमली ही!

खोये हुए मन को खुद-ब-खुद सांत्वना मिल रही है, गुण भुलाये नहीं जाते, अपनी चेतना के दर्पण में प्रतिबिंबित मार्मिक भावनाओं की छवि भुलाये नहीं भूलती. वैषयिक संपर्क में भाटा आता है तो आने दो, जीवन जिया जा सकता है. एक शरीर—कुछ भी हो उसका नाम—मनुष्य का शरीर है, उसमें कुछ भी छुपा हुआ नहीं, सब विधाता की सृष्टि है. उम्र के अनुपात में जीने का वही एक-सा व्यवहार, वही मन, वही सुख-दुःख की लहरें, लुका-छिपी का खेल. उसी जीवन का जल सभी घट में है, सिर्फ पात्र अलग-अलग हैं. दर्शन के तथ्य मन को आनंदित करते हैं, आंखों से अंतस दिख जाता है. उन्हीं आंखों से वह देखने लगा. वह स्वयं भी बन सकता था माधव बाबू. . .

और खिड़की के उस तरफ वह—हू-ब-हू कमली.

उसका विवाह अभी नहीं हुआ है—न हो; बैठक में एक बच्चा इधर-उधर दौड़ा-दौड़ी कर रहा था. वह हो सकता था उसका आत्मज, उसकी संतान.

नहीं हो सका, न हो—नाम भूल जाने पर सभी चीजें समान हैं.

सोचते-सोचते मन भर आता है. दिन गुजर रहे हैं, वह उड़ते हुए चला आ रहा है, घर नहीं बसा. यौवन समाप्त होने से पहले ही विस्मरण उतर आया है, क्यों? क्या वह चिनगी लगे मन की हूक भूलने के लिए प्रकृति का अंजन है?

देखो, वह व्यक्ति जा रहा है. तीस रुपये उधार लिये हैं उसने. आड़े समय में उधार ले गया था. उसके बाद सब कुछ भूल गया. अशोक ने सिर उठाकर देखा. नाम याद नहीं आ रहा. वह व्यक्ति जल्दी-जल्दी नजदीक की गली में घुस रहा है. अशोक ने इंतजार नहीं किया. साइकिल की रफ्तार बढ़ाते हुए पीं-पीं करता हुआ उड़ गया उसी के पीछे-पीछे. □

● अनुवाद : राजेंद्रप्रसाद मिश्र

दांपत्य का भ्रम

शिवराम कारंत

दोनों पत्रिकाएं 'स्वदेशाभिमान,' 'प्रभात' पढ़कर सोनाली ने एक ओर रख दीं. अब तक वह दोनों पत्रिकाओं को पांच-पांच बार पढ़ चुकी थी. जब इससे काम न चला तो हफ्ते भर के पुराने समाचारपत्रों को फिर से उलट-पलटकर देखा. उसे अखबार पढ़ते देखकर सास राजीवी का तन-बदन सुलग उठता. इसके पास समय काटने का दूसरा साधन नहीं था. सास के साथ दाल-रोटी बनाने में मदद की. खाना पकाकर धर दिया. तब भी समय कट नहीं रहा था. पड़ोस से मांगा हुआ 'संडे टाइम्स' भी उलट-पलटकर देखा. जब मन में ही शांति न हो तो भला अखबार का ढेर क्या कर सकता है? 'हिंदू' मंगाती तो थोड़ा-सा समय और काटा जा सकता था, पर महीने में दो रुपये कुछ आने देने की बात पर तो उसके पति अप्पण्णा कम्ती का दिल ही बैठ जायेगा.

रात के आठ का घंटा बजने के बाद मिनट की सुई एक और चक्कर लगा आयी. पति से पहले खाना भी नहीं खा सकती. नींद भी नहीं आयेगी. दूकान बंद करके घर आने तक अक्सर अप्पण्णा कम्ती को दस ही बज जाते. सुबह आठ बजे से रात के दस बजे तक उनकी दूकान खुली रहती थी. ऐसी कौन चीज थी, जो उसकी दूकान में न मिलती हो. वह उधार कर्जा देने की हिम्मत भी रखता था. आसपास के सारे गांववालों के लिए तो यह परचून की दूकान, ग्राम पंचायत और जनता जनार्दन की कचहरी बनी हुई थी.

अप्पण्णा गांव की सब बातों का जानकार होने के कारण प्यार से इधर-उधर की बातें करता हुआ नाप-तौल में चार-छह तोले की डंडी मार जाता तो मूर्ख ग्राहक को पता भी न चलता. वैसे देखा जाये तो दीये जलने के बाद के व्यापार में जो नफा था; वह दूसरे समय में होना मुश्किल था. दीया जलने के बाद तीन साल का पुराना तंबाकू 'बढ़िया' अव्वल दर्जे का, फरमाइशी माल बन जाता. घुन लगे चने, 'ताजे बंगाल के' हो जाते. बेकार की कुल्थी 'नंबर वन' माल बन जाती, "मैं कह रहा हूं, यह ले जाकर तो देखिए. यह कुल्थी उबालकर बैलों के सामने रखोगे तो वे बर्तन तक चाट जायेंगे. यह दाल अदहन में डालते ही तीन मील तक खुशबू जायेगी. केसरी रंग की इस अरहर की दाल को आप बकवास बता रहे हैं!" इस प्रकार ग्राहक को मूर्ख बनाने में उसका कोई सानी नहीं था. बातों में यह इतना चतुर था कि बार-बार धोखा खाकर भी ग्राहक अप्पण्णा कम्ती की दूकान पर ही आते थे.

"कम्ती भाई, पिछली बार तुमने जो अरहर की दाल दी थी, वह तो सारी की सारी भैंस को डालनी पड़ी, एकदम घुनी हुई थी, आटा जैसी." ग्राहक की शिकायत सुनते ही वह कहता, "अच्छा, जाने दीजिए, मैंने उसका भाव ढाई आने बताया था, अब दो आने लगाये लेता हूं. आप जैसे लोग भला झूठ तो बोलेंगे नहीं." कहकर ग्राहक की तसल्ली कराकर इस बार भी वैसी ही दाल ग्राहक के सिर मढ़ देता. चाहे कोई भी ग्राहक क्यों न आये; वह हमेशा कहता, "आपके दादा के जमाने से हमारी दूकान से ही सौदा जाता है. असल बात है, ऋणानुबंध इसी को कहते हैं."

यह सच है कि उसके और ग्राहकों के संबंध इतने अच्छे थे, इस बात की साक्षी उसकी दूकान थी. उसकी दूकान के दीये पर जितने भुनगे मंडराते, उतने ही ग्राहक उसकी दूकान पर दिखाई देते, लेकिन उसके साथ भांवरे लेकर आयी उसकी पत्नी का और उसका ऋणानुबंध कुछ ठीक नहीं दीखता था.

वह रात को देर से घर आता और जल्दी-जल्दी हाथ-पांव धोकर खाना खाने बैठ जाता. मां भी साथ ही खाना खाने बैठती. सोनाली खाना परोसती. वह खाना खाकर सोने चला जाता. अब तक सोनाली खाना खाकर काम निबटाकर कमरे में पहुंचती तो अप्पण्णा गहरी कुंभकर्णी नींद में डूबा मिलता. सुबह बिस्तर से उठकर काफी निबटाते ही वह दूकान को निकल जाता और सोनाली घर के काम-काज में लग जाती. दोपहर में दो बजे से पहले वह घर नहीं आता था. उसके आने और जाने का पता ही नहीं चलता था. इसी बीच उसका स्नान, जाप और खाना सब निबट जाता.

सोनाली अगर जिद करके आधा घंटा आराम करने को गिड़गिड़ाती तो वह कहता,

"ग्राहक आसमान सिर पर उठा लेंगे. वह बैरी तंबाकू लेकर आया है. उससे मोल-भाव करके आया हूं. अभी माल तोला भी नहीं. अगर वही माल तोलकर चला गया तो मन भर में तीस सेर ही निकलेगा." और भाग निकलता.

रात को सोनाली भगीरथ प्रयत्न करके यदि पति से बात करने का प्रयास करती तो उसे यह न सूझता कि उससे किस विषय पर बात करें? अप्पण्णा मुंह खोलता तो बस, "इस साल बरखा ज्यादा है. मंगलूर में पार्वती स्टीमर बंदरगाह तक पहुंच ही नहीं पाया."

एक दिन स्टीमर की ही खबर आयी थी. इस बार पार्वती नहीं आ रहा है. वह छोटा स्टीमर है. अब जो दमयंती कारगो बोट आयी है, वह बंदर तक तीन बार आकर लौट गयी. एक दाना चीनी नहीं है. दमयंती में तीन सौ बोरी लदी थी. यह कंबख्त तूफान पीछा ही नहीं छोड़ रहा. कोलंबो में मानसून आ चुका है." उसका यह भाषण सुनकर सोनाली चिढ़ गयी. पूरे महीने में एक दिन भी उसका दुख-सुख नहीं पूछता. तब उसके मुंह से निकल ही गया, "दमयंती स्टीमर न आये, मेरी बला से. आपका स्टीमर कभी बंद नहीं होगा. चीनी भले ही न सही, मीठी बात का भी अकाल है क्या? जिन्हें बात करने की भी फुरसत नहीं, उन्हें भला शादी करने की क्या जरूरत थी!"

आगे की बात आप स्वयं सोच सकते हैं. अप्पण्णा समझ गया कि मौसम और वर्षा की बात नहीं करनी चाहिए. वह मौन हो गया. सारी रात चुप्पी में ही बीत गयी. अगले दिन दोपहर को मां-बेटे दोनों भोजन के लिए बैठे. सोनाली चावल परोस रही थी. तब अप्पण्णा ने व्यंग्य से कहा, "अब तो मेरे पास दो मीठी बातें भी नहीं हैं. अपने दसवीं तक पढ़ने का घमंड सिर को चढ़ गया है."

मां ने 'क्या बात है?' पूछा. बेटे ने सारी बात सुनायी. वह भी बेटे की तरफ से ही बोली, "उसे घरवाले की क्या जरूरत है? न्यूजपेपर जो है. इस घर में कौन-सी कमी है उसे. खाने को नहीं है? पहनने को नहीं है? या ओढ़ने को नहीं है?"

सोनाली भी भभक उठी. वह बोली, "हां, हां, सब कुछ है. इतना तो आंगन में बंधी गोपी (गाय) के पास भी है."

सास के अधिकार को ठेस पहुंची. वह बोली, "हूं, मुंह के सामने ही जवाब देने लगी हो! क्या इस घर में हमने तुम्हें गोपी की तरह रख रखा है? अप्पण्णा, कल से तुम दूकान पर मत जाना, समझे! तुम इसकी बगल में बैठकर अंग्रेजी अखबार पढ़ना. दूकान जाये भाड़ में. बाद में बीबीजी को आटे-दाल का भाव मालूम पड़ेगा! अंग्रेजी पढ़कर ही तो वेंकप्पा प्रभु का दीवाला निकल गया. नहीं तो बंदरगाह में लाखों का व्यापार करनेवालों की यह दशा होती! एक बार सुपारी का भाव गिरने से कोई डूब जाता है क्या?"

मां की अधूरी बात को अप्पण्णा ने पूरा किया, "सुपारी के व्यापार की बात नहीं थी. वे तो क्लब में ही रात-दिन पड़े रहते थे. सुबह से शाम तक ताश, माल-पानी, ताश, अंग्रेजी अखबार, दूकान पर दूसरों का दरबार, ऐसे में एक लाख की तो बात क्या, दस लाख रहें तो भी न बचेंगे? अगर उनकी शान पहले जैसी होती तो क्या वे अनपढ़ लड़के को अपनी- दसवीं पास बेटी देते?"

अप्पण्णा ने कभी बात नहीं की थी, पर मौका आने पर इतनी बात करेगा, इसकी कल्पना सोनाली ने नहीं की थी. वह पहले से ही चिंता में डूबी हुई थी कि कैसा घर उसके पल्ले पड़ा. अब उसकी चिंता सौ गुनी हो उठी.

दोपहर को उसने खाना नहीं खाया. अपने कमरे में आकर मुंह फुलाकर बैठी रही. चाहे वह अपना मुंह कितना भी क्यों न फुलाये रहती, उसकी बात पूछने वाला वहां कौन था? सास आयी नहीं. पतिदेव का सारा समय दूकान में ही कट जाता. उसने अखबार उठाकर फाड़कर फेंक दिये. उसे याद आया, उन लोगों ने उसके पिता की निंदा की थी. उनके दीवालिया होने का सच था. वे तो अपनी बेटी की शादी किसी आई. सी. एस. से करना चाहते थे. वह आशा यूं ही धरी रह गयी. मंजेश्वर के अप्पण्णा को बेटी देनी पड़ी, यह सच था. कुछ भी भले न सही, पर खाने-पीने और कपड़े-लत्ते की चिंता तो नहीं रहनी चाहिए ना. उन्होंने बेटी को बड़े लाड़-प्यार से पाला था. एकलौती बेटी जो थी. शादी करने के कुछ ही दिन बाद उन्हें पता चल गया कि वे कैसे घर में बेटी दे बैठे.

अब क्या हो सकता था? सोनाली सोचने लगी. क्या पिता के घर जाना ठीक होगा? पिता वानप्रस्थ लेने के बारे में सोच रहे हैं. क्या उन्हें अपनी चिंता से दुखी करना ठीक होगा? उसकी शादी सत्तरह बरस की उमर में हुई थी. अब वह चौबीस की थी. दुख दूर करने को कोई बच्चा भी नहीं. लोगों के आस-पास होने पर भी वह अकेली थी.

कई बार उसका मन पिता के घर जाने की ओर जाता. जब भी उसके पिता उसे देखते, कह उठते, "मैंने तुझे कुएं में ढकेल दिया." और कहकर रो देते. अब उन्हें अपना दुख बता दे तो बुढ़ापे में उन्हें इससे आघात पहुंचेगा, इसलिए जब भी वह पिता के घर जाती, तब अपनी ससुराल के वैभव का ही बखान करती. इस कारण मन में सोचा कि क्या अब जाकर एकदम से ऐसा तलवार का-सा घाव उनको दिखाना ठीक रहेगा? जाकर उनके साथ गरीबी में जीवन काटूं?

हम यौन शिक्षा की बात अक्सर करते हैं, पर क्या कोई ऐसा स्कूल है, जो दांपत्य के लिए आवश्यक शिक्षा प्रदान करता हो. यह काम न आने वाली शिक्षा कोई कितनी भी प्राप्त कर ले, उससे दांपत्य जीवन को क्या लाभ? पारिवारिक जीवन के एक नाजुक मोड़ की संवेदनापूर्ण झलक प्रस्तुत करता लेखक के चर्चित उपन्यास 'सरसम्मा की समाधि' का एक महत्वपूर्ण अंश—

कारण ताश तो होगी, पर अकेली ताश ही नहीं रही होगी. क्या वे अखबार पढ़ने से दीवालिया हो गये? खैर, वे दीवालिया अवश्य थे, यह तो

● शिवराम कारंत

10 अक्टूबर, 1902 में जन्मे (कर्नाटक के एक गांव कोट में) कारंत आठ भाइयों और एक बहन में एक थे. अध्यापन के अलावा कपड़ा बेचने का धंधा भी करना पड़ा. उन्हें यक्षगान का कलागुरु भी माना जाता है. लगभग दो सौ कृतियों के इस लेखक को कन्नड़ साहित्य को 'मूकज्जिय कनसुगलु' जैसा अतींद्रिय कथालोक प्रदान करने के उपलक्ष में 1977 के भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से अलंकृत किया गया.

अब क्या किया जाये? पति को विद्वान बनाना संभव है? उनके पास विद्या तो काफी है. स्कूल जाकर उन्होंने सामान्य ज्ञान—कम से कम व्यापार भर का ज्ञान तो प्राप्त किया ही है, पर ऐसा कौन-सा स्कूल है, जो दांपत्य के लिए आवश्यक ज्ञान प्रदान करता हो. यही विचार उसके मन में उठ रहे थे. अगर कोई ऐसी शिक्षा देता हो तो क्या सारे स्कूल-कालेज परीक्षा केंद्र होने के बदले विवाह मंडप नहीं बन जायेंगे. यह बात ध्यान में आते ही उसे हंसी आयी.

हंसते-हंसते उसके पेट में बल पड़ गये, पर दूसरे ही क्षण यह ध्यान आया, परिवार के काम में न आने वाली विद्या भले ही कितनी भी क्यों न हो, उससे क्या लाभ? अपरिचित स्त्री-पुरुषों को अलग-अलग पालकर एक दिन उन्हें मंडप में बिठाकर दांपत्य के लिए उन्हें मिला देना क्या एक भ्रम नहीं? □

● अनुवाद : बी. आर. नारायण

मेरे नग्मों को नींद आती है

फिराक गोरखपुरी

"फिराक ने बस इतना ही चाहा है कि इंसानी जिंदगी को अपनी जिंदगी बना ले और इंसान 'फिराक' की जिंदगी को अपनी जिंदगी बना ले. मेरा अलग कोई अस्तित्व नहीं है. मैं आप ही लोगों में से एक, आप ही जैसा एक व्यक्ति हूं . . ." अपने पाठकों के रू-ब-रू अपनी उपलब्धियों, क्षमताओं और अपेक्षाओं को स्वीकारते फिराकजी के आत्म-कथ्य के महत्वपूर्ण अंश—

जीवन का काव्यात्मक और कलात्मक अनुभव प्राप्त करना और दूसरों तक इस अनुभव को पहुंचाना साहित्य का एकमात्र लक्ष्य है. हिंदू संस्कृति और इस संस्कृति के मिजाज ने मुझे यह अनुभव कराया कि प्रेमी-प्रेमिका संबंध, घरेलू जीवन, सामाजिक जीवन, प्रकृति के दृश्य, धरती, नदियां, सागर, पहाड़, लहलहाते खेत, बाग और जंगल, अग्नि, हवा, सूर्य, चंद्रमा, सितारे, मौसमों का जुलूस—किसी भी ईश्वर-पैगंबर, धार्मिक ग्रंथ, काबा या काशी से कहीं अधिक दिव्य और पवित्र है. भौतिकता के चमत्कार के अनुभव को ही मैं उच्च-से उच्च आध्यात्मिकता महसूस करता था. जिसे हम भौतिक कहते हैं, वही दिव्य भी है और उसके अतिरिक्त कोई विचार दिव्य नहीं है. लेकिन जिस ठंडे रूप से मैं यह बातें कह रहा हूं, अगर यही बातें इसी ढंग से मैं कविता में कहता तो मुझे संतोष न होता. मैं जिन विषयों पर काव्य-रचना करना चाहता था—स्वर, ध्वनि, और संकेत के सहारे उन्हें काव्यात्मक और कलात्मक बनाकर दिव्य भी बनाता था. साथ-ही-साथ ठेठ मानवता का लबोलहजा भी अपनी कविता में मुझे पैदा करना था. कविता में बातें कहनी पड़तीं लेकिन यह भी देखना और करना होता है कि :

बात पहुंचती है कहां से कहां.

ऐसा करने ही से सत्य का अधिक-से-अधिक साक्षात्कार होता है. और फिर वह और अधिक रहस्यमय तथा संगीतमय बन जाता है. मुझे उस जमीन को, जिसे उर्दू के बड़े-बड़े कवियों ने अपने कलेजे के खून से सींचकर तैयार किया था, फिर से गोड़ना और जोतना था. अपनी कविता की शैली को मुझे एक सहज सुझाव देना था. उसके साथ-ही-साथ मानवता और दिव्यता प्रदान करनी थी. जिन विषयों को मुझे वाणी देनी थी, वे अनित्य होते हुए अमृतपान कर चुके हैं और अमरत्व पा चुके हैं. दिव्यता, भौतिकता से पृथक वस्तु नहीं है. यही अनुभव अनेक पहलुओं से व्यक्त करना—मेरे लिए कविता का मुख्य लक्ष्य रहा है.

साधारण-से-साधारण विषयों को सुगम-से-सुगम भाषा में और स्वाभाविक-से-स्वाभाविक शैली में इतना उठा देना कि पंक्तियों की उंगलियां सितारों को छू लें, यही उच्चतम काव्य-रचना है. मैं प्रकृति या परमाणुओं के अतिरिक्त आत्मा या परमात्मा के अलग और स्वतंत्र अस्तित्व को नहीं मानता. संस्कृति काव्य में रसों का सिद्धांत भौतिकता में निहित गुणों के अनुभव करने-कराने का ही दूसरा नाम है. देखना यही रहता है कि ये रस किन गहराइयों से निकलते हैं. क्या वे केवल होंठ और जीभ को ही छू पाते हैं या हमारी चेतना के तालुओं को भी छू लेते हैं. अब मैं एक ऐसी बात कहने का साहस करूंगा जो कुछ लोगों को शायद चकित कर दे. साहित्य बनता तो शब्दों से है, लेकिन ये शब्द जब एक नीरवता में लय-लीन हो जायें, जब शेर विस्मृत हो जायें, वही स्थिति साहित्य और काव्य की सबसे बड़ी देन है. महाभारत का युद्ध तो हम कविता का सहारा लिए बिना भी लड़ सकते हैं. औद्योगिक क्रांति, फ्रांस की क्रांति, रूस की क्रांति, चीन की क्रांति को साहित्य और कविता का बहुत कम सहारा लेना पड़ा. महान-से-महान कार्य, जो संसार में हो रहे हैं, वह साहित्य के सहारे नहीं हो

▣ रघुपति सहाय 'फिराक'

जन्म : 28 अगस्त, 1896, गोरखपुर; देहावसान : 1981. 1950-62 की सर्वश्रेष्ठ कृति 'गुलेनग्मा' (उर्दू) के लिए 1969 के पुरस्कार विजेता. भारतीय उर्दू काव्य के स्वर और संस्कार के नये रूप के जन्मदाता.

रहे हैं. साहित्य किसी राजनीतिक दल का सदस्य नहीं है. वह इतिहास का स्वयंसेवक भी नहीं है. साहित्य हमारी चेतना की वह तपस्या है, वह साधना है, जिससे हमारी विश्व या आत्म चेतना दिव्य बन जावे. चेतना-प्राप्ति किसी दूसरे उद्देश्य या लक्ष्य का साधन मात्र नहीं है बल्कि वह स्वयं अपना लक्ष्य है. बर्नार्ड शॉ ने अपने एक नाटक में उस समय का चित्रण किया है जब मनुष्य विकास और उन्नति की अंतिम मंजिलों तक पहुंच चुकेगा. यहां पहुंचकर बर्नार्ड शॉ एक सवाल उठाता है—उस स्थिति को प्राप्त करके या उस सिद्धि को पाकर मनुष्य क्या किया करेगा? जवाब देता है कि वह जीवन कारोबारी जीवन नहीं होगा. राजनीति, अर्थशास्त्र और दौड़-धूप के कामों से वह जीवन मुक्त होगा. वह जीवन एकमात्र विचारों और अनुभवों में निमग्न रहेगा. साहित्य हमें उस कर्म और कार्य-मुक्ति, बंधनग्रसित जीवन से छुटकारा दिलाने में सहायक होता है. ज्ञान-ध्यान आडंबर नहीं है. हम भले उन्हें ज्ञान-ध्यान से रहित होकर एक आडंबर बना दें. अपना एक शेर मुझे याद आया :

**जाओ न तुम इस बेखबरी पर कि हमारी
हर ख्वाब से इक अहद की बुनियाद पड़ी है.**

यहां 'अहद' का मतलब 'युग' है. दुनिया और मानवजाति कर्म के बंधन ग्रहण करके आगे बढ़ती है और आगे बढ़ती जायेगी और ज्यूं-ज्यूं आगे बढ़ती जायेगी, कर्म हल्का होता जायेगा और कम-से-कम होकर रह जायेगा. विज्ञान और वैज्ञानिक आविष्कारों की उन्नति इस ओर संकेत कर रही है. मशीनों ने इसीलिए जन्म लिया है कि मनुष्य को कम-से-कम शारीरिक बल लगाये बिना ही सब कुछ मिलता रहे और जो कुछ वह चाहता है, सब कुछ होता रहे. कर्म का महत्व एक बीच की मंजिल है.

मैंने अपनी रचना में यही प्रयास किया है कि हम काव्यात्मक और कलात्मक चेतना से, मनन और विवेक से ऐसे अनुभव प्राप्त कर सकें जिससे संसार से अलग किसी खुदा, ईश्वर, मजहब, पूजा-पाठ, सिज्दा, दंडवत या सांप्रदायिकता का कोई स्थान न हो. हिंदू-विचार सांप्रदायिक विचार नहीं है. किसी विशेष जाति या संप्रदाय को दूसरी जातियों और संप्रदाय से अलग करके हिंदू-विचारों का निर्माण नहीं हुआ है. जब ये विचार ईश्वर-वादिता से मुक्त हैं, तो संप्रदायवादिता में कैसे

फ़िराक़ गोरखपुरी की दो ग़ज़लें

एक

सकूते-शाम मिटाओ बहुत अंधेरा है
सुख़न की शम्अ जलाओ बहुत अंधेरा है
चमक उठेगी सियह-बख़्तियां ज़माने की
नवा-ए-दर्द सुनाओ बहुत अंधेरा है
हर इक चराग़ से हर तीरगी नहीं मिटती
चराग़े-अश्क जलाओ बहुत अंधेरा है
दयारे-ग़म में दिले-बेक़रार छूट गया
संभल के ढूंढने जाओ बहुत अंधेरा है
ये रात वो है कि सूझे जहां न हाथ को हाथ
ख़यालो दूर न जाओ बहुत अंधेरा है
लटों को चेहरे पे डालो वो सो रहा है कहीं
ज़िया-ए-रुख़ को चुराओ बहुत अंधेरा है
पसे-गुनाह जो ठहरे थे चश्मे-आदम में
उन आंसुओं को बहाओ बहुत अंधेरा है
ये तीरगी-ए-फ़ज़ा-ए-जहां महब्बत के
नसीबे-ख़ुफ़्ता जगाओ बहुत अंधेरा है
फ़राज़े-दिल को सदा दो कोई बतर्ज़े-कलीम
चराग़े-नूर जलाओ बहुत अंधेरा है
दिलों के सोज़े-निहां से नये उफ़ुक़ के क़रीं
इक आफ़ताब बनाओ बहुत अंधेरा है
हवा-ए-नीमशबी हो कि चादरे-अंजुम
नक़ाब रुख़ से उठाओ बहुत अंधेरा है
बिसाते-अर्ज़ो-समा के तो बुझ चुके हैं कंवल
चराग़े-दिल को जलाओ बहुत अंधेरा है
शबे-सियाह में गुम हो गयी है राहे-हयात
क़दम संभल के उठाओ बहुत अंधेरा है
गुज़श्ता-अहद की यादों को फिर करो ताज़ा
बुझे चराग़ जलाओ बहुत अंधेरा है
थी इक उचटती हुई नींद ज़िंदगी उसकी
फ़िराक़ को न जगाओ बहुत अंधेरा है

दो

सज़ा-ए-हुस्न-परस्ती बजा, बजा भी नहीं
कि जुर्मे-इश्क़े-बुतां है बुरा, बुरा भी नहीं
किसी को क्या न मिला ज़िंदगी में वाए नसीब
हमारे हाथ बस एक दिल रहा, रहा भी नहीं
लिये-दिये भी हैं हम लोग खोये-खोये भी
कि होशो-गमज़दगां है बजा, बजा भी नहीं
अरे ख़ुदा तो अमीरों का है ख़ुदा वाएज़
जिसे ग़रीबों का कहिए ख़ुदा, ख़ुदा भी नहीं
उधर क़दम भी उठाने दे बद-दिमाग़ी-ए-इश्क़
हम ऐसों पर दरे-जन्नत खुला, खुला भी नहीं
नज़र-फ़रेबी-ए-तहरीर ले उड़ी मुझको
सिरे से नामा-ए-जानां पढ़ा, पढ़ा भी नहीं
तमाम शोख़ी-ए-रफ़्तार तेरी राहगुज़र
क़दम का नक़्श कुछ ऐसा उठा, उठा भी नहीं
वो जैसे हैं ही नहीं इस अदा से सामने हैं
अगर कहूं कि वो मुझसे ख़फ़ा, ख़फ़ा भी नहीं
ठहर गये सरे-दुनिया तो बेजगह ठहरे
चलो-चलो कि ये मातम-सरा सरा भी नहीं
अदा, अदा से अदा हो तो हम अदा समझें
नहीं अदा-दर-अदा जो अदा, अदा भी नहीं
हम उसको देख के भी आह, किस तरह देखें
नज़ारा-ए-रुख़े-जानां हुआ, हुआ भी नहीं
अजब ये दौर है या रब कि ख़ुश-जमालों को
वफ़ा, वफ़ा भी नहीं है, जफ़ा, जफ़ा भी नहीं
भला है कौन, बुरा कौन, इस ज़माने में
बुरा, बुरा भी नहीं है, भला, भला भी नहीं
ये वक़्ते-सुबह चमन आंसुओं की दुनिया में
सरश्के-ख़ंदा-ए-गुल में छुपा, छुपा भी नहीं
निगाहे-नाज़ से क्या सुन के दिल उदास हुआ
अगर कहें कि कुछ उसने कहा, कहा भी नहीं
चमक उसी की लबो-ताबे-हुस्नो-इश्क़ में है
ज़मीं का दर्द कुछ इतना दबा, दबा भी नहीं
ज़मां-मकां का ये परदा हिजाबे-अकबर है
हज़ार बार ये परदा उठा, उठा भी नहीं
तेरी निगाह से दुनिया को इक शिकायत है
बजा-बजा ये शिकायत बजा, बजा भी नहीं
बस इक निगाह की परछाईयां बक़ा-ओ-फ़ना
बक़ा, बक़ा भी नहीं है, फ़ना, फ़ना भी नहीं
जिसे मआमिला-ए-हुस्नो-इश्क़ कहते हैं
हज़ार बार ये झगड़ा चुका, चुका भी नहीं
वो आंख कहती है ऐसे का क्या ठिकाना है
फ़िराक़ आदमी तो है भला, भला भी नहीं.

जकड़े रह सकते हैं? मेरी कविताओं की अपील सार्वजनिक है. आज यूरोप, अमरीका और दूसरे देशों में भी भारतीय विचारधारा का गहरा अध्ययन किया जा रहा है.

ऐसा नहीं है कि मैंने सामाजिक या राजनीतिक जाग्रति पैदा करने के लिए कविताएं रची ही न हों, 'धरती की करवट', 'मार्क्स और लेनिन की सेवाएं.' 'इकावे-चीन रोटियां,' 'हिंडोला,' मेरी वे कविताएं हैं, और मेरी बहुत-सी रुबाइयां मेरी वे रचनाएं हैं जिसमें कर्म के महत्त्व को समझने के लिए समाज को ललकारा गया है, लेकिन यहां भी चिंतन और मनन कलात्मक है. ये कविताएं सामयिकता से ऊपर के स्तरों को छूती हैं. इनमें कर्म के लिए उपदेश नहीं बल्कि कर्म अपनी सीमाओं में रहता हुआ भी दिव्य बन गया है. अंत में यही कहूंगा कि मेरे नजदीक कविता वही है, जिसकी शब्दावली कोषों के उन शब्दों से न बनायी जाये जो समाज में प्रचलित नहीं हैं. जैसा कि अंगरेजी के महाकवि वर्ड्सवर्थ ने बताया है—शब्दों और वाक्यों में भाव और रस तभी पैदा होता है जब भावनाओं से प्रेरित होकर सैकड़ों बरस तक जनसाधारण की शब्दावली में अपने आंतरिक

अनुभवों को व्यक्त करे. कविता की भाषा न कोषों में दफन रहती है, न दवात की रोशनाई में. करोड़ों की बोल-चाल को सुसंगठित करके कविता की भाषा बनती है. यही किया है सूर ने, मीरा ने. और यही किया है समझदार उर्दू कवियों ने. जिस तरह देहात का दर्जी फूहड़पन से कपड़े काटकर और भद्देपन से सीकर कोट, कमीज, कुरता और दूसरे वस्त्र बनाता है, उसी तरह बोली को फूहड़ या मुर्दार ढंग से प्रयोग करके कविता रचना, नागरता को चौपट कर देता है. खड़ी बोली के साथ बेढंगेपन का व्यवहार करके, उसे अपरिचित शब्दों से बोझिल करके, शब्द-क्रम बिगाड़कर कविता करना खड़ी बोली की कोई सेवा नहीं है. अलबत्ता हमें एक दूसरे खतरे से भी सावधान रहना है. वह खतरा यह है कि हम केवल ऊपरी चमक-दमक और दिखावे की भाषा को खड़ी बोली कविता की भाषा न बनने दें. यह भाषा केवल शुद्ध स्वाभाविक या टकसाली नहीं होनी चाहिए, इसे प्रभावात्मक भी होना चाहिए, जिसमें हमारी चेतना डूब सके, जो हमारी चेतना को तल्लीन बना सके, जो कविता में संगीत और कर्णप्रिय झंकारें पैदा कर सके. शैली न तो ठुकराने से काम चलता है, न उसके ऊपरी और बाहरी सजावटों या बनावटों से कागजी फूल तराशने से काम चलता है. साधारण शब्दों के जीवित और दुखती हुई रगों को छू देने से जो भाषा बनती है, वही कविता की भाषा है.

तब मेरी विधवा का क्या होगा ?

फ़िराक़ साहब के सम्मान में विज्ञान भवन में समारोह आयोजित था. इंदिरा जी अध्यक्षता के लिए आने ही वाली थीं. प्रबंध परिषद् के अध्यक्ष डा. गोपाल रेड्डी ने उनसे कान में कहा, "फ़िराक़ साहब, प्राइज मनी आप प्रधानमंत्री को भेंट कर दीजिए. पब्लिक की भलाई के कामों के लिए."

फ़िराक़ साहब ने जवाब नहीं दिया. मुस्कराकर रह गये. शायद रेड्डी साहब को आशा बंधी कि वह कुछ न कुछ इस तरह की बात करेंगे. फ़िराक़ साहब जब अपना भाषण देने खड़े हुए तो साहित्य के संबंध में इतनी बढ़िया और ऊंची बातें कहीं कि लोग तालियां बजाते रहे. अंत में बोले, "मैं एक किस्सा सुनाना चाहता हूं. एक तहसीलदार साहब थे. उन्होंने एक संस्था खोली 'विधवा सहायक फंड.' जो भी आता, मिलता, सबसे चंदा लेते. काफी कुछ रुपया इकट्ठा हो गया तो लोगों ने सवाल किया, 'तहसीलदार साहब, अब इस रुपये का इस्तेमाल तो कीजिए.' तहसीलदार साहब बोले, 'इस्तेमाल जरूर होगा. आखिर मैं सारी उमर तो बैठा नहीं रहूंगा. मेरी विधवा का क्या होगा?'

यह कहकर फ़िराक़ साहब ने रेड्डी साहब को देखा और मुस्कराये. इस भेद को पता नहीं कितनों ने समझा. मैंने जरूर समझा.

—ल. चं.

अब मैं 75 बरस का हो रहा हूं. और शिथिलताएं मुझ पर छाती जा रही हैं. यह मेरी जीवन की संध्या है. शायरी मैंने इरादे से कभी नहीं की. किसी गुप्त स्रोत से अकस्मात उत्पन्न होने वाली प्रेरणाएं, मुझसे काव्य-रचना कराती रही हैं. जब कोई कविता स्वयं गुनगुनाती हुई मेरे अंतःकरण से निकलकर पंक्तियों का रूप धारण करके आरंभ हो जाती थी, तो पूरी कविता इसी प्रारंभ से बनती चली जाती थी. मेरा हाथ और कलम इसी प्रेरणा के बस में होता था. कविता करना तो दूर रहा, मैं साधारण मनोरंजन के लिए, अध्ययन के लिए या किसी हृदयग्राही कार्य के लिए हिसाब-किताब लगा के, हानि-लाभ जोड़ के, जबरदस्ती किसी इरादे को अपने ऊपर लादकर, किसी काम को या कर्त्तव्य समझकर कदाचित ही कोई काम करता था. मालूम होता है कि मेरा पूरा अस्तित्व गुप्त शक्तियों के हाथ में रहा है. मेरा सब-कुछ करना-धरना इन्हीं शक्तियों के द्वारा रहा है. मैंने अपनी जीवन-संबंधी धारणाएं और अन्य केंद्रित विचार इस कथन में बताने का यत्न किया है. बयान लंबा होता जाता है, अपने आपको कहां तक समझूं या समझाऊं, कुछ आप भी मुझे, इन कविताओं द्वारा, इस कथन द्वारा सही या गलत समझने का प्रयत्न करें और देखें कि मेरी कविताओं में हर-एक के दिल का चोर कहां तक निकला है. क्या इन कविताओं को पढ़कर, गुनगुनाकर आप अपने-आपको पा सके हैं, जीवन को कहीं से भी छू सके हैं. मेरे अनुभवों को अपना जीवन-साथी बना सके हैं, तो मैं इसे अपनी कविताओं की सफलता समझूंगा. कहा गया है कि अगर हम शेक्सपियर की कोई रचना पढ़ते हुए उससे सही ढंग से और सही मात्रा तक प्रभावित हो सकें तो उतनी देर के लिए हम शेक्सपियर के बराबर हो जाते हैं. 'फ़िराक़' ने बस इतना ही चाहा है कि इंसानी जिंदगी को अपनी जिंदगी बना ले और इंसान 'फ़िराक़' की जिंदगी को अपनी जिंदगी बना ले. मेरा अलग कोई अस्तित्व नहीं है. मैं आप ही लोगों में से एक, आप ही लोगों-जैसा व्यक्ति हूं. कार्लाइल ने ठीक ही कहा है कि पूरा समाज गुप्त और अर्ध-चैतन्य ढंग से जिन बातों को धुंधलके में अनुभव करता है, कवि उन्हीं अनुभवों को धुंधलके से उभारकर खुली रोशनी में प्रस्तुत करता है. इतना कह के आप लोगों से रुख़सत चाहूंगा. अब मेरे जीवन और मेरे संगीत दोनों को नींद आ रही है. :

अब तुमसे रुख़सत होता हूं, आओ संभालो साज़े-ग़ज़ल,
नये तराने छेड़ो, मेरे नग़्मों को नींद आती है. □

अगला पुरस्कार कब दे रहे हो !

रघुपति सहाय 'फ़िराक़' गोरखपुरी को उनकी पुस्तक 'गुले-नग़्मा' के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया. जब समारोह में फ़िराक़जी को बोलने की बारी आयी तो उन्होंने कहा, "ऐसे कैसे शुरू करूं. पहले मुख्य अतिथि आकर बिस्मिल्ला तो करा दें." मुख्य अतिथि थीं प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी... और उसके बाद जो दौर चला शेरो-शायरी का तो पता ही नहीं चला रात कब गुजरी.

सुनते हैं समारोह के लगभग एक सप्ताह बाद फ़िराक़ साहब ने ज्ञानपीठ सचिव से बातों-बातों में मनो-विनोद करते हुए पूछा, "अमा, अगला पुरस्कार भी मुझे ही दे डालो."

"क्यों...क्यों...?" सचिव महोदय ने पूछा.

फ़िराक़ साहब बोले, "भाई पूरे एक सप्ताह से हमारे फन के कद्रदां महफ़िल जमाये हुए हैं हमारे गरीबखाने पर. उम्मीद है अब तक तो आपके चैक की रकम स्वाहा हो ही गयी होगी." □

कहानी अल्पजीवियों का महाकाव्य है!

▣ दत्तात्रेय रामचंद्र बेंद्रे

कहानी क्या होती है और कहानी में क्या-क्या होना चाहिए, क्या-क्या नहीं होना चाहिए? बता रहे हैं १९७३ के ज्ञानपीठ पुरस्कार के सहविजेता द.रा. बेंद्रे, जो ३१ जुलाई, १८९६ को धारवाड़ (कर्नाटक) में एक ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे. अब तक पचास से अधिक कृतियां प्रकाशित, जिनमें से अधिकांश काव्य हैं. कविता संग्रह 'नाकुतंती' पर ही इन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया था.

कहानी भावगीतों के समान आत्मा से संबंध रखती है, देह से नहीं. देह में भी एक गद्य होता है, दूसरा पद्य; एक कहानी होती है, दूसरा गीत. कहानी की मनोरचना अलग प्रकार की होती है और गीत की मनोरचना अलग प्रकार की. पहला बाह्य घटनाओं से संबंध रखता है, दूसरा अंतर की लहरों और कल्लोल का खेल है. कहानी हड्डी की तरह कड़ी होती है और गीत रक्त की भांति मृदु और तरल. फिर भी गीतों के भावों में, कहानी की संक्षिप्तता में एक भाव-समानता है. वह भाव तंतु प्राणों का सूक्ष्म तंतु है. उन्हीं घटनाओं को बुनकर कहानी बनती है. मनका-मनका पिरोकर गीत बनता है. वह छोटा-सा स्वर, वह भाव दोनों में समान होता है.

'मास्तिजी' की एक पुरानी कहानी के समान कहानी भले ही बड़ी हो या छोटी. सूक्ष्म रूप से वहां अविवेक या विवेक ही कथाओं का प्राण-तंतु है. घटनाओं का लोक कोई भी हो, उनको पिरोनेवाला एक सूक्ष्म भाव होता है. उसका सूक्ष्म चरित्र होता है. कहानियों में घटनाओं के घटने की अपेक्षा सूक्ष्म भाव का लीला विलास ज्यों-ज्यों बढ़ता है, त्यों-त्यों उनमें भावगीत का-सा रूप आ जाता है. रवींद्र की 'सुबह' अथवा 'विजय' में यह बात स्पष्ट हो जाती है. ऐसी चीजों को देखकर इसमें 'यह क्या, यहां कहानी तो समाप्त हो गयी है, यह तो काव्य बन गया है' यह कहकर नाक-भौं चढ़ा सकते हैं. कहानी की इस शैली को देखकर यह कहना गलत नहीं होगा कि कहानी की सूक्ष्म मूर्ति को काव्यमयता का मुखौटा पहना देने से उसमें और ही कांति आ जाती है. इस प्रकार की कथा शैली कहानी का जाला बुनने को आकार देती है. जिस प्रकार मकड़ी का जाला मक्खियों को अपने में फंसा लेता है, उसी प्रकार कहानी का यह ताना-बाना मन को अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहता. कहानी में चाहे एक पगली के जीवन का सपना हो, चाहे एक बुद्धिमान के जीवन की कोई समस्या हो, पाठक को उस व्यथा का, उस आनंद का अनुभव कराये बिना नहीं रहती.

कहानी अल्पजीवियों का महाकाव्य है. महात्मा का जीवन, महत्तर जीवन भी अपने आविर्भाव के लिए विशाल अवकाश चाहता है. अल्पजीवियों का अल्पजीवन तो टट्टी की ओट में शिकार खेल लेता है. जिस प्रकार एक गांववालों को शहर में आकर दिशाभ्रम हो जाता है. सारहीन अल्प जीवन के लिए विस्तार विनाश के रूप में परिणित हो जाता है. साधारणतः सबके जीवन में सुंदर कणसर बहुत ही कम होते हैं, रेत के कण ही अधिक होते हैं. महाकाव्य, पुराण, रामायण, महाभारत आदि देवता, अवतार, राजा-महाराजा का इतिहास ही प्रकाशित करते हैं. क्षुद्र, अल्प, हीन, दीन, दुर्बल दुखियों की किंचत मात्र-सी आत्मलीला कहानियों का बड़ा साधन बनती है. महात्माओं का इतिहास आदि से अंत तक महत्त्वपूर्ण नहीं होता. अल्पजीवियों के चरित्र में भला रखा क्या है? यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें भगवान बृहद् स्वरूप में भले ही न दीखे, पर सर्दी में बुझते अंगारों में राख के बीच एक नन्हीं चिंगारी अवश्य दीखेगी. उस चित्र को चित्रित करने का महान कार्य कहानियों के पल्ले पड़ा है. अकस्मात आत्मदर्शन के समान ही अकल्पित अधःपतन भी विचारणीय है. वह भी कहानी की कथा वस्तु है. महान से भी महान बनने का अवकाश कहानी में रहता है. मास्तिजी की 'वसुमती' या 'परकाया प्रवेश' और 'एक पुरानी कहानी' की-सी महानता कहानियों के राजमार्ग में मील का पत्थर है. रवींद्र का राजमार्ग भी प्रत्यक्ष राजमार्ग है.

गुणों को परखने की शक्ति ज्यों-ज्यों स्थिर होकर विकसित होती है, पर हित, सुख-दुखों को अल्प व्यक्तियों के बीच भी आत्मा का विराट रूप देख सकता है. ज्यों-ज्यों उसका परिचय बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसमें वर्णन की कुशलता भी बढ़ती जाती है. जब तक यह शक्ति नहीं आती, कहानी केवल कहानी मात्र बनकर रह जायेगी, उसमें बड़प्पन नहीं आयेगा, वह तो केवल एक पगडंडी भर रह जायेगी. वह महान नहीं हो सकती, छोटी कमजोर कहानी मात्र बन सकती है. नाम के कारण कहानी मनोरंजन की एक वस्तु बन जाती है. ऐसी कहानी से तृप्ति पाना ऐसी ही बात होगी, जैसे प्यासे का पानी छोड़कर ओस चाटना. ऐसी प्यास को तृप्त करने के लिए मृगतृष्णा के पीछे भागना पड़ेगा. चाहे हम किसी के भी पीछे जायें, पर कहानी के मान सरोवर के दर्शन होने चाहिए. अब कथाकार उस ओर बढ़ रहे हैं, शिवास्ते पंथा. □

▣ प्रस्तुति : बी. आर. नारायण

सिस्तर के वास्ते

महादेवी वर्मा

अपने अतीत से वह इतना जुड़ा था कि दूसरे देश पहुंचकर भी उसने अपनी बहन खोज ही ली. कैसा था उसका अतीत . . . और कैसी है उसकी विदेशी बहन जिस पर अनायास ही वह इतना अधिकार पा सका ? अपने मार्मिक कथात्मक रेखाचित्रों के लिए चर्चित लेखिका का एक अनूठा रेखाचित्र . . .

मुझे चीनियों में पहचान कर स्मरण रखने योग्य विभिन्नता कम मिलती है. कुछ समतल मुख एक ही सांचे में ढले-से जान पड़ते हैं. और उनकी एकरसता दूर करने वाली, वस्त्र पर पड़ी हुई सिकुड़नों जैसी नाक की गठन में भी विशेष अंतर नहीं दिखाई देता. कुछ तिरछी, अधखुली और विरल भूरी बरूनियों वाली आंखों की तरल रेखाकृति देखकर भ्रांति होती है कि वे सब एक नाप के अनुसार किसी तेज धार से चीरकर बनायी गयी हैं. स्वाभाविक पीतवर्ण धूप के चरण-चिह्न पर पड़े हुए धूल के आवरण के कारण कुछ ललछहे सूखे पत्ते की समानता पा लेता है. आकार-प्रकार, वेशभूषा सब मिलकर इन दूर-देशियों को यंत्रचालित पुतलों की भूमिका दे देते हैं, इसी से अनेक बार देखने पर भी फेरीवाले चीनी को दूसरे से भिन्न करके पहचानना कठिन है.

पर आज मुखों की एकरूप समष्टि में मुझे एक मुख आर्द्र नीलिमामयी आंखों के साथ स्मरण आता है. जिसकी मौन भंगिमा कहती है—हम कार्बन की कापियां नहीं हैं. हमारी भी एक कथा है. यदि जीवन की वर्णमाला के संबंध में तुम्हारी आंखें निरक्षर नहीं, तो तुम पढ़कर देखो न.

कई वर्ष पहले की बात है. मैं तांगे से उतरकर भीतर आ रही थी. और भूरे कपड़े का गट्ठर बायें कंधे के सहारे पीठ पर लटकाये हुए और दाहिने हाथ में लोहे का गज घुमाता हुआ चीनी फेरीवाला फाटक से बाहर निकल रहा था. संभवतः मेरे घर को बंद पाकर वह लौटा जा रहा था. "कुछ लेगा मेम साब!"—दुर्भाग्य का मारा चीनी. उसे क्या पता कि यह संबोधन मेरे मन में रोष की सबसे तुंग तरंग उठा देता है. मइया, माता, जीजी, दिदिया, बिटिया आदि न जाने कितने संबोधनों से मेरा परिचय है, और सब मुझे प्रिय हैं, पर यह विजातीय संबोधन मानों सारा परिचय छीनकर मुझे गाउन में खड़ा कर देता है. इस संबोधन के उपरांत मेरे पास से निराश होकर न लौटना, असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है.

मैंने अवज्ञा से उत्तर दिया, "मैं विदेशी . . . फॉरिन . . . नहीं खरीदती."

"हम फॉरिन है? हम तो चाइना से आता है." कहनेवाले के कंठ में सरल विस्मय के साथ उपेक्षा की चोट से उत्पन्न चोट भी थी. इस बार रुककर उत्तर देनेवाले को ठीक से देखने की इच्छा हुई. धूल से मटमैले सफेद किरमिच के जूते में छोटे पैर छुपाये, पतलून और पैंजामे का सम्मिश्रित परिणाम जैसा पैंजामा और कुरते तथा कोट की एकता के आधार पर सिला कोट पहने, उधड़े हुए किनारों से पुरानेपन की घोषणा करते हुए हैट से आधा माथा ढके, दाढ़ी-मूछ विहीन, दुबली नाटी जो मूर्ति खड़ी थी, वह तो शाश्वत चीनी है. उसे सबसे अलग करके देखने का प्रश्न जीवन में पहली बार उठा.

मेरी उपेक्षा से उस विदेशीय को चोट पहुंची, यह सोचकर मैंने अपनी 'नहीं' को और अधिक कोमल बनाने का प्रयास किया, "मुझे कुछ नहीं चाहिए भाई!"

चीनी भी विचित्र निकला, "हमको भाय बोला है, तब जरूर लेगा—जरूर हां."

'होम करते हाथ जला' वाली कहावत हो गयी. विवश कहना पड़ा—"देखूं तुम्हारे पास है क्या?" चीनी बरामदे में कपड़े का गट्ठर उतारता हुआ कह चला, "भोत अच्छा सिल्क लाता है सिस्तर! चाइना सिल्क, क्रेप. . ." बहुत कहने-सुनने के उपरांत दो मेजपोश खरीदना आवश्यक हो गया. सोचा—चलो छुट्टी हुई. इतनी कम बिक्री होने के कारण चीनी अब कभी इस ओर आने की भूल नहीं करेगा.

पर कोई पंद्रह दिन बाद वह बरामदे में अपनी गठरी पर बैठकर गज को फर्श पर बजा-बजाकर गुनगुनाता हुआ मिला. मैंने उसे बोलने का अवसर न देकर व्यस्त भाव से कहा, "अब तो मैं कुछ न लूंगी. समझे?" चीनी खड़ा होकर जेब से कुछ निकालता हुआ प्रफुल्ल मुद्रा से बोला, "सिस्तर का वास्ते हैकी लाता है - . . भोत बेस्त, सब सेल हो

गया. हम इसको पाकेत में छिपा के लाता है."

देखा, कुछ रूमाल थे. ऊदी रंग के डोरे से भरे हुए किनारों का हर घुमाव और कानों में उसी रंग से बने नन्हे फूलों की प्रत्येक पंखुड़ी चीनी नारी की कोमल उंगलियों की कलात्मकता ही नहीं व्यक्त कर रही थी, जीवन के अभाव की करुण कहानी भी कह रही थी. मेरे मुख के निषेधात्मक भाव को लक्ष्य कर अपनी नीली रेखाकृति आंखों को जल्दी-जल्दी बंद करते और खोलते हुए वह एक सांस में, 'सिस्तर का वास्ते लाता है, सिस्तर का वास्ते लाता है.' दोहराने-तिहराने लगा.

मन में सोचा—अच्छा भाई मिला है. बचपन में मुझे लोग चीनी कहकर चिढ़ाया करते थे. संदेह होने लगा, उस चिढ़ाने में कोई तत्व भी रहा होगा. अन्यथा आज यह सचमुच का चीनी, सारे इलाहाबाद को छोड़कर मुझसे बहिन का संबंध क्यों जोड़ने आता. पर उस दिन से चीनी को मेरे यहां जब-तब आने का विशेष अधिकार प्राप्त हो गया. चीन का साधारण श्रेणी का व्यक्ति भी कला के संबंध में विशेष अभिरुचि रखता है, इसका पता भी उसी चीनी की परिष्कृत रुचि में मिला.

नीली दीवार पर किस रंग के चित्र सुंदर जान पड़ते हैं, हरे कुशन पर किस प्रकार के पक्षी अच्छे लगते हैं, सफेद पर्दे के कोनों में किस बनावट के फूल-पत्ते खिलेंगे आदि के विषय में चीनी उतनी ही जानकारी रखता था, जितनी किसी अच्छे कलाकार में मिलेगी. रंग से उसका अति परिचय यह विश्वास उत्पन्न कर देता था कि वह आंखों पर पट्टी बांध देने पर भी स्पर्श से रंग पहचान लेगा.

चीन के वस्त्र, चीन के चित्र आदि की रंगमयता देखकर भ्रम होने लगता है कि वहां की मिट्टी का हर कण भी इन्हीं रंगों से रंगा न हो. चीन देखने की इच्छा प्रकट करते ही 'सिस्तर का वास्ते हम चलेगा.' कहते-कहते चीनी की आंखों की नीली रेखा प्रसन्नता से उजली हो उठती थी.

अपनी कथा सुनाने के लिए भी वह विशेष उत्सुक रहा करता था, पर कहने-सुनने वाले के बीच की खाई बहुत गहरी थी. उसे चीनी और बर्मी भाषाएं आती थीं, जिनके संबंध में अपनी सारी विद्या-बुद्धि के साथ मैं 'आंखों के आगे अंधे नाम नैनसुख' की कहावत चरितार्थ करती थी. अंग्रेजी की क्रियाहीन संज्ञाएं और हिंदुस्तानी की संज्ञाहीन क्रियाओं के सम्मिश्रण से जो विचित्र भाषा बनती थी, उसमें कथा का सारा मर्म बंध नहीं पाता था, पर जो कथाएं हृदय का बांध तोड़कर दूसरों को अपना परिचय देने के लिए बह निकलती हैं, वे प्राय: करुण होती हैं और करुणा की भाषा शब्दविहीन रहकर भी बोलने में समर्थ है. चीनी फेरी-वाले की कथा भी इसका अपवाद नहीं.

जब उसके माता-पिता ने मांडले आकर चाय की छोटी दूकान खोली तब उसका जन्म नहीं हुआ था. उसे जन्म देकर और सात वर्ष की बहिन के संरक्षण में छोड़कर जो परलोक सिधारी, उस अनदेखी मां के प्रति चीनी की श्रद्धा अटूट थी.

संभवत: मां ही ऐसा प्राणी है, जिसे कभी न देख पाने पर भी मनुष्य ऐसे स्मरण करता है, जैसे उसके संबंध में कुछ जानना बाकी नहीं. यह स्वाभाविक भी है.

मनुष्य को संसार से बांधने वाला विधाता मां ही है, इसी से उसे न मानकर संसार को न मानना सहज है, पर संसार को मानकर उसे न मानना असंभव ही रहता है.

पिता ने जब दूसरी बर्मी चीनी स्त्री को गृहिणी-पद पर अभिषिक्त किया, तब उन मातृहीनों की यातना की कठोर कहानी आरंभ हुई. दुर्भाग्य इतने से ही संतुष्ट नहीं हो सका, क्योंकि उसके पांचवें वर्ष में पैर रखते-न-रखते एक दुर्घटना में पिता ने भी प्राण खोये.

अन्य अबोध बालकों के समान उसने सहज ही अपनी परिस्थितियों से समझौता कर लिया, पर बहिन और विमाता में किसी प्रस्ताव को लेकर जो वैमनस्य बढ़ रहा था, वह इस समझौते को उत्तरोत्तर विषाक्त बनाने लगा. किशोरी बालिका की अवज्ञा का बदला उसी को नहीं,

उसके अबोध भाई को भी कष्ट देकर चुकाया जाता था. अनेक बार उसने ठिठुरती हुई बहिन की कंपित उंगलियों में अपना हाथ रख, उसके मलिन वस्त्रों में अपना आंसुओं से धुला मुख छिपा और उसकी छोटी-सी गोद में सिमटकर भूख भुलायी थी. कितनी ही बार सवेरे, आंख मूंदकर बंद द्वार के बाहर दीवार से टिकी हुई बहिन की ओर से गीले बालों में, अपनी ठिठुरी हुई उंगलियों को गर्म करने का व्यर्थ प्रयास करते हुए, उसने पिता के पास जाने का रास्ता पूछा था. उत्तर में बहिन के फीके गाल पर चुपचाप ढुलक आने वाले आंसू की बड़ी बूंद देखकर वह घबराकर बोल उठा था—उसे कहवा नहीं चाहिए, वह तो पिता को देखना भर चाहता है.

कई बार पड़ोसियों के यहां रकाबियां धोकर और काम के बदले भात मांगकर बहिन ने भाई को खिलाया था. व्यथा की कौन-सी अंतिम यात्रा ने बहिन के नन्हे हृदय का बांध तोड़ डाला, इसे अबोध बालक क्या जाने. पर एक रात उसने बिछौने पर लेटकर बहिन की प्रतीक्षा करते-करते आधी आंख खोली और विमाता को कुशल बाजीगर की तरह, मैली-कुचैली बहिन का कायापलट करते देखा. उसके सूखे होंठों पर विमाता की मोटी उंगली ने दौड़-दौड़कर लाली फेरी, उसके फीके गालों पर चौड़ी हथेली ने घूम-घूमकर सफेद गुलाबी रंग भरा, उसके रूखे बालों को कठोर हाथों ने घेर-घेरकर संवारा और तब नये रंगीन वस्त्रों में सजी हुई उस मूर्ति को एक प्रकार से ठेलती हुई विमाता रात के अंध-

▣ महादेवी वर्मा

जन्म : 1907 फर्रुखाबाद.

'यामा' व 'दीपशिखा' के लिए सन् 1982 के ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित वरिष्ठ छायावादी कवयित्री.

बालक का विस्मय भय में बदल गया और भय ने रोने में शरण पायी—कब वह रोते-रोते सो गया, इसका पता नहीं, पर जब वह किसी के स्पर्श से जागा, तो बहिन उस गठरी बने भाई के मस्तक पर मुख रख कर सिसकियां रोक रही थी. उस दिन उसे अच्छा भोजन मिला, दूसरे दिन कपड़े, तीसरे दिन खिलौने—पर बहिन के दिनों-दिन विवर्ण होने वाले होंठों पर अधिक गहरे रंग की आवश्यकता पड़ने लगी, उसके उत्तरोत्तर फीके पड़ने वाले गालों पर देर तक पाउडर मला जाने लगा.

बहिन के छीजते शरीर और घटती शक्ति का अनुभव बालक करता था. पर वह किससे कहे, क्या कहे, यह उसकी समझ के बाहर की बात थी, बार-बार सोचता, पिता का पता मिल जाता, तो सब ठीक हो जाता. उसके स्मृति-पट पर मां की कोई रेखा नहीं, परंतु पिता का जो अस्पष्ट चित्र अंकित था, उससे उनके स्नेहशील होने में संदेह नहीं रह जाता. प्रतिदिन निश्चय करता कि दूकान में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति से पिता का पता पूछेगा और एक दिन चुपचाप उनके पास पहुंच और उसी तरह चुपचाप उन्हें घर लाकर खड़ा कर देगा—तब यह विमाता कितनी डर जायेगी और बहिन कितनी प्रसन्न होगी.

चाय की दूकान का मालिक अब दूसरा था, परंतु पुराने मालिक के पुत्र के साथ उसके व्यवहार में सहृदयता कम नहीं रही, इसी से बालक एक कोने में सिकुड़कर खड़ा हो गया और आने वालों से हकला-हकलाकर पिता का पता पूछने लगा. कुछ ने आश्चर्य से देखा, कुछ मुस्करा दिये, पर दो-एक ने दूकानदार से कुछ ऐसी बात कही, जिससे वह बालक को हाथ पकड़कर बाहर ही नहीं छोड़ आया, इस भूल की पुनरावृत्ति होने पर विमाता से दंड दिलाने की धमकी भी दे गया. इस प्रकार उसकी खोज का अंत हुआ.

बहिन का संध्या होते ही कायापलट, फिर उसका आधी रात बीत जाने पर भारी पैरों से बिछौने से उछलकर उतर आना, बहिन के शिथिल हाथों से बटुए का छिन जाना और उसका भाई के मस्तक पर मुख रखकर स्तब्ध भाव से पड़ रहना आदि क्रम ज्यों-के-त्यों चलते रहे.

पर एक दिन बहिन लौटी ही नहीं. सवेरे विमाता को कुछ चिंतित भाव से खोजते देख बालक सहसा किसी अज्ञात भय से सिहर उठा. बहिन—उसकी एकमात्र आधार बहिन. पिता का पता न पा सका और अब बहिन भी खो गयी.

वह जैसा था वैसा ही बहिन को खोजने के लिए गली-गली में मारा-मारा फिरने लगा. रात में वह जिस रूप में परिवर्तित हो जाती थी, उसमें दिन को उसे पहचान सकना कठिन था, इसी से वह जिसे अच्छे कपड़े पहने हुए जाता देखता, उसी के पास पहुंचने के लिए सड़क के एक ओर से दूसरी ओर दौड़ पड़ता. कभी किसी से टकराकर गिरते-गिरते बचता, कभी किसी से गाली खाता, कभी कोई दया से प्रश्न कर बैठता—क्या इतना जरा-सा लड़का भी पागल हो गया है?

इसी प्रकार भटकता हुआ वह गिरहकटों के गिरोह के हाथ लगा और तब उसकी दूसरी शिक्षा आरंभ हुई. जैसे लोग कुत्ते को दो पैरों से बैठना, गर्दन ऊंची कर खड़ा होना, मुंह पर पंजे रखकर सलाम करना आदि करतब सिखाते हैं, उसी प्रकार वे सब उसे तंबाकू के धुएं और दुर्गंधित सांस से भरे और फटे चिथड़ों, टूटे बरतन और मैले शरीर से बसे हुए कमरे में बंद कर कुछ विशेष संकेतों और हंसने-रोने के अभिनय में पारंगत बनाने लगे.

कुत्ते के पिल्ले के समान ही वह घुटनों के बल खड़ा रहता और हंसने-रोने की विधि मुद्राओं का अभ्यास करता. हंसी का स्रोत इस प्रकार सूख चुका था कि अभिनय में भी वह बार-बार भूल करता और मार खाता. पर क्रंदन से दो गोल-गोल बूंदें नाक के दोनों ओर निकल आतीं और पतली समानांतर रेखा बनातीं और मुंह के दोनों सिरों को छूती हुई ठुड्डी के नीचे तक फैल जातीं. इसे अपनी दुर्लभ शिक्षा का फल समझकर रोओं से काले उदर पर पीला-सा रंग बांधने वाला उसका ... प्रसन्नता से उछलकर उसे एक लात जमाकर पुरस्कार देता.

वह दल बर्मी, चीनी, स्यामी आदि का सम्मिश्रण था, इसी से 'चोरों की बारात में अपनी-अपनी होशियारी' के सिद्धांत का पालन बड़ी सतर्कता से हुआ करता. जो उस पर कृपा रखते थे, उनके विरोधियों का संदेहपात्र होकर पिटना भी उसका परम कर्तव्य हो जाता था. किसी की कोई वस्तु खोते ही उस पर संदेह की ऐसी दृष्टि आरंभ होती कि बिना चुराये ही वह चोर के समान कांपने लगता और तब उस 'चोर के घर छिछोर' की जो मरम्मत होती थी, उसका स्मरण करके चीनी की आंखें आज भी व्यथा और अपमान से धक-धक जलने लगती थीं.

सबके खाने के पात्र में बचा उच्छिष्ट एक तामचीनी के टेढ़े-मेढ़े बरतन में, सिगार से जगह-जगह जले हुए कागज से ढककर रख दिया जाता था, जिसे वह हरी आंखों वाली काली बिल्ली के साथ मिलकर खाता था.

बहुत रात गये तक उनके नरक के साथी एक-एक कर आते रहते और अंगीठी के पास सिकुड़कर लेटे हुए बालक को ठुकराते हुए निकल जाते. उनके पैरों की आहट पढ़ने का उसे अच्छा अभ्यास हो चला था, जो हल्के पैरों को जल्दी-जल्दी रखता हुआ आता है, उसे बहुत कुछ मिल गया है, जो शिथिल पैरों को घसीटता हुआ लौटता है, वह खाली हाथ है, जो दीवार को टटोलता हुआ लड़खड़ाते पैरों से बढ़ता है, वह शराब में सब खोकर बेसुध आया है, जो देहली से ठोकर खाकर धम-धम पैर रखता हुआ घुसता है, उसने किसी से झगड़ा मोल ले लिया है आदि का ज्ञान उसे अनजाने में ही प्राप्त हो गया था.

यदि दीक्षांत के उपरांत विद्या के उपयोग का श्रीगणेश होते ही उसकी भेंट पिता के परिचित एक चीनी व्यापारी से न हो जाती, तो इस साधना से प्राप्त विद्वत्ता का क्या अंत होता, यह बताना कठिन है. पर संयोग ने उसके जीवन की दिशा को इस प्रकार बदल दिया कि वह कपड़े की दूकान पर व्यापारी की विद्या सीखने लगा.

प्रशंसा के पुल बांधते-बांधते वर्षों पुराना कपड़ा सबसे पहले उठा लाता, गज से इस तरह नापता कि जो बराबर भी आगे न बढ़े चाहे अंगुल भर भी पीछे रह जाये. रुपये से लेकर पाई तक को खूब देख-भालकर लेना और लौटते समय पुराने खोटे पैसे विशेष रूप से खनका खनकाकर दे डालना आदि कम रहस्यमय नहीं था. पर मालिक के साथ भोजन मिलने के कारण बिल्ली के संग उच्छिष्ट सहभोग की आवश्यकता नहीं रही और दूकान में सोने की व्यवस्था होने से अंगीठी के पास ठोकरों से पुरस्कृत होने की विवशता जाती रही. चीनी छोटी अवस्था में ही समझ गया था कि धन-संचय से संबंध रखने वाली सभी विद्याएं एक-सी हैं, पर मनुष्य किसी का प्रयोग प्रतिष्ठापूर्वक कर सकता है और किसी का छिपाकर.

कुछ अधिक समझदार होने पर उसने अपनी अभागी बहिन को ढूंढने का बहुत प्रयत्न किया, पर उसका पता न पा सका. ऐसी बालिकाओं का जीवन खतरे से खाली नहीं रहता. कभी वे मूल्य देकर खरीदी जाती हैं और कभी बिना मूल्य के गायब कर दी जाती हैं. कभी वे निराश होकर आत्महत्या कर लेती हैं और कभी शराबी ही नशे में उन्हें जीवन से मुक्त कर देते हैं. उस रहस्य की सूत्रधारिणी विमाता भी संभवत: पुनर्विवाह कर किसी और को सुखी बनाने के लिए कहीं दूर चली गयी थी. इस प्रकार उस दिशा में खोज का मार्ग ही बंद हो गया.

इसी बीच में मालिक के काम से चीनी रंगून आया, फिर दो वर्ष कलकत्ते में रहा और तब अन्य साथियों के साथ उसे इस ओर आने का आदेश मिला. यहां शहर में एक चीनी जूते वाले के घर ठहरा है और सबेरे आठ से बारह और दो से छह बजे तक फेरी लगाकर कपड़े बेचता रहता है.

चीनी की दो इच्छाएं हैं, ईमानदार बनने की और बहिन को ढूंढ लेने की —जिनमें से एक तो स्वयं उसी के साथ में है और दूसरी के लिए

गीत

बिरह का जलजात जीवन बिरह का जलजात
वेदना में जन्म, करुणा में मिला आवास
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात
जीवन बिरह का जलजात

आंसुओं का कोष उर दृग अश्रु की टकसाल
तरल जल-कण से बने घन-सार्वणिक मृदु गात
जीवन बिरह का जलजात

अश्रु से मधुकण लुटाता आ यहां मधुमास
अश्रु ही की हाट बन आती करुण बरसात
जीवन बिरह का जलजात

काल इसको दे गया पल-आंसुओं का हार
पूछता इसकी कथा निश्वास ही में बात
जीवन बिरह का जलजात

जो तुम्हारा हो सके लीलाकमल यह आज
खिल उठे निरुपम तुम्हारी देख स्मित प्रात
जीवन बिरह का जलजात

■ महादेवी वर्मा

वह प्रतिदिन भगवान् बुद्ध से प्रार्थना करता है.

बीच-बीच में वह महीनों के लिए बाहर चला जाता था, पर लौटते ही 'सिस्तर का वास्ते ई लाता है' कहता हुआ कुछ लेकर उपस्थित हो जाता. इस प्रकार उसे देखते-देखते मैं इतनी अभ्यस्त हो चुकी थी कि एक दिन वह 'सिस्तर का वास्ते' कहकर और शब्दों की खोज करने लगा. तब मैं उसकी कठिनाई न समझकर हंस पड़ी. धीरे-धीरे पता चला—बुलावा आया है, वह लड़ने के लिए चाइना जायेगा. इतनी जल्दी कपड़े कहां बेचे और न बेचने पर मालिक को हानि पहुंचाकर बेईमान कैसे बने! यदि मैं उसे आवश्यक रुपया देकर सब कपड़े ले लूं, तो वह मालिक का हिसाब चुकताकर तुरंत देश की ओर चल दे.

किसी दिन पिता का पता पूछने आकर वह हकलाता था—आज भी संकोच से हकला रहा था. मैंने सोचने का अवकाश पाने के लिए प्रश्न किया, "तुम्हारे तो कोई है ही नहीं, फिर बुलावा किसने भेजा?" चीनी की आंखें विस्मय से भरकर पूरी खुल गयीं, "हम कब बोला, हमारा चाइना नहीं है? हम कब ऐसा बोला सिस्तर?" मुझे स्वयं अपने प्रश्न पर लज्जा आयी, उसका इतना बड़ा चीन रहते वह अकेला कैसे होगा.

मेरे पास रुपया रहना कठिन है, अधिक रुपये की चर्चा ही क्या पर कुछ अपने पास खोज-ढूंढकर और कुछ दूसरों से उधार लेकर मैंने चीनी के जाने का प्रबंध किया. मुझे अंतिम अभिवादन कर जब वह चंचल पैरों से जाने लगा, तब मैंने पुकार कर कहा, "यह गज तो लेते जाओ!" चीनी सहज स्मित के साथ घूमकर 'सिस्तर का वास्ते' ही कह सका. शेष शब्द उसके हकलाने में खो गये.

और आज कई वर्ष हो चुके हैं—चीनी को फिर देखने की संभावना नहीं, उसकी बहिन से मेरा कोई परिचय नहीं, पर न जाने क्यों वे दोनों भाई-बहिन मेरे लिए स्मृति पट से हटते ही नहीं.

चीनी की गठरी में से कई थान मैं अपने ग्रामीण बालकों के कुरते बना-बनाकर खर्च कर चुकी हूं, परंतु अब भी तीन थान मेरी आल्मारी में रखे हैं. और लोहे का गज दीवार के कोने में खड़ा है. एक बार जब इन थानों को देखकर खादी-भक्त बहिन ने आक्षेप किया था, "जो लोग बाहर से विशुद्ध खद्दरधारी होते हैं, वे भी विदेशी रेशम के थान खरीद कर रखते हैं, इसी से तो देश की उन्नति नहीं होती." तब मैं बड़े कष्ट से हंसी रोक सकी थी.

वह जन्म का दुखिया मातृ-पितृहीन और बहिन से बिछुड़ा हुआ चीनी भाई अपने समस्त स्नेह के एकमात्र आधार चीन में पहुंचने का आत्मतोष पा गया है, इसका कोई प्रमाण नहीं, पर मेरा मन यही कहता है. □

... कुछ काव्यात्मकता होती ही है और उसके भीतर एक छोटा-बड़ा अभिनेता भी छिपा रहता है. दिल को छूने वाली कोई घटना होते ही दिल के तार झनझना उठते हैं और उसकी अभिनय क्षमता भी ऐसे मौकों पर रंग लाती है और तब . . . कठपुतली की तरह अभिनीत होने लगते हैं हम लोग. जीवन के इसी पक्ष को उकेरती मराठी कहानी

कठपुतलियां

विष्णुसखाराम खांडेकर

किवाड़ खोलकर विश्वनाथ ऑपरेशन थियेटर से बाहर बरामदे में आये. बाहर धुआंधार बारिश हो रही थी. बिजलियों की चकाचौंध और बादलों की गड़गड़ाहट. उन्हें हैरत-सी हो रही थी मौसम का हाल देखकर. कलाई घड़ी में सवा नौ बज रहे थे! पूरे तीन घंटे 'ओ. टी.' में व्यस्त रहे थे. इस बीच उन्हें पता भी नहीं चला कि बारिश कब शुरू हुई और कब उसने उग्र रूप धारण कर लिया. वे जैसे सुध-बुध खोकर ऑपरेशन करते रहे थे! ऑपरेशन टेबुल पर पड़ी साधारण कद की वह काया जिंदा रहनी चाहिए, उसका दिल धड़कते रहना चाहिए, ऑपरेशन कामयाब होना चाहिए—इसी धुन में वे ऑपरेशन करते रहे. उस सेठ की जान बचाने में उन तीन घंटों में उन्होंने अपनी समूची निपुणता दांव पर लगा दी थी. जीवन-मृत्यु की लुका-छिपी से सेठजी को उबारने की कोशिश करते रहे. साथ ही कीर्ति और बदनामी, ऐश्वर्य और फटीचरी की पल-पल बदलती मानसिकता में भी वे हिचकोले लेते रहे थे. बंबई के नामी-गिरामी डॉक्टरों ने इस मामले में घुटने टेक दिये थे—शायद बदनामी के खतरे से बचने के लिए. . . लेकिन डॉ. विश्वनाथ ने इस खतरे को चुनौती मानकर स्वीकार किया. ऑपरेशन कामयाब भी रहा और अब.

डॉक्टर बरामदे की रेलिंग के पास खड़े रहे. उन्हें लगा जैसे उनके उद्वेलित मन का प्रतिबिंब ही समूचे संसार पर व्याप्त है. मूसलाधार बारिश की छपछप् उन्हें बरबस कोड़ों के मार का आभास दिला रही थी, बल्कि पुलिस के जवान जूतों की 'टक्-टक्' के साथ गुजरते हुए लग रहे थे. ऐसी बारिश के समय बचपन की इन अनुभूतियों का स्मरण एक अजीब-सा एहसास दिला रहा था. लग रहा था मानो कोई धन्ना सेठ आकाश पर सवार हुआ है और सिक्कों की बौछार कर रहा है.

बीच में ही बिजली कौंध गयी तो वे यूं ही मुस्कराये. उन्हें लगा कि वे केवल प्रतिष्ठित डॉक्टर ही नहीं, एक संवेदनशील कवि भी बन सकते हैं. काले-कजरारे बादलों का कलेजा चीरकर प्रकट होनेवाली विद्युल्लता को महाकवियों ने अनेकानेक उपमाएं दी हैं, पर एक निपुण सर्जन के हाथ में सुशोभित लैंसेट की उपमा शायद ही किसी ने दी हो.

किसी के आने की आहट पाते ही उन्होंने मुड़कर देखा. उनके सहायक डा. देशपांडे मुस्कराते हुए आ रहे थे.

"कहो डॉ. देशपांडे, क्या कहता है पेशेंट तुम्हारा?

"बिल्कुल मजे में है. आपका नाम रोशन करने के लिए यही एक केस काफी है. मैं रात में तो यहां हूं, आप घर जाकर आराम कीजिए सर!"

अब कहीं डॉ. विश्वनाथ को घर की याद आयी. उन्होंने दोपहर में वासंती को इतना भर बताया था कि 'आज एक महत्वपूर्ण ऑपरेशन है.' अपने मन की उथल-पुथल का तनिक भी एहसास उन्होंने नहीं होने दिया था, लेकिन अब इस कामयाब ऑपरेशन की खबर सुनते ही वह फूली नहीं समायेगी. मीठी मुस्कान बिखेरते हुए कहेगी, "अच्छा हुआ! घर में एक ही कार होने से कितनी परेशानी होती थी! किसी सभा-सम्मेलन, पार्टी-क्लब, पिक्चर-नाटक या महिला-मंडल के कार्यक्रम में जाना हो तो आपको टेलीफोन करके गाड़ी मंगवानी पड़ती थी. इस धन्ना सेठ के सफल ऑपरेशन की खबर ज्यों ही चारों तरफ फैलेगी, आपकी प्रैक्टिस दुगुनी-तिगुनी हो जायेगी. और मुझे भी अलग से एक कार मिलेगी. वह युग भी तो समानता का ही है... समान सुविधाएं! पति-पत्नी दोनों के पास अलग-अलग गाड़ियां होनी चाहिए, क्योंजी सही है न?"

अस्पताल में स्थित अपने कक्ष की ओर जाने के लिए डॉ. विश्वनाथ मुड़े ही थे कि वासंती की चिर-परिचित किलकारियों का एहसास हुआ. उन्हें लगा कि वासंती की दो संतानें होने से ही उसे मां कहना पड़ता है, वरन ...! अभी तो वह जवान लगती है! छोटी बच्ची हर रोज नयी गुड़िया चाहती है, उसके लिए नये कपड़ों का आग्रह करती है, बल्कि रेशमी और जरी के कपड़े दिलवाने की जिद करती है... वासंती अभी भी ठीक वैसी ही है. उसे...

कमरे में प्रवेश करके आराम-कुरसी पर बैठते ही उन्हें एहसास होने लगा कि उनका बदन अकड़ गया है घंटों मेहनत के बाद. वैसे तो घर जाने में देर हो ही चुकी थी. फिर भी दस-पांच मिनट में आराम-कुरसी में सुस्ताने, सिगरेट के कश खींचने की तीव्र इच्छा उन्हें हो रही थी. लड़ाई के मोर्चे पर तैनात सिपाही की-सी स्थिति में वे थे. बदन के अवयव जवाब दे रहे थे, इसलिए थोड़ी देर तक आराम की इच्छा उन्हें हुई.

आराम-कुरसी में बैठकर उन्होंने पाइप जलाया. पाइप के कश खींचते हुए उन्हें लग रहा था कि थके-हारे बदन को गुनगुने पानी से नहलाया जा रहा हो. कई तरह के बड़े-बड़े सपनों को सब्जबाग से सजा रहे थे. जय प्रकाश के चार वर्ष का होने से पहले ही उसके पिताजी बंबई के एक मशहूर डॉक्टर के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके होंगे! उसके बड़े होने तक वे अनगिनत धन बटोर लेंगे. चिकित्सा विज्ञान की आधुनिकतम जानकारी हासिल कर वे पूरे देश में मौजूद गिने-चुने डॉक्टरों की सूची में स्थान प्राप्त करेंगे! और ढड़ साल की अरुणा बिटिया... उसे तो वे... इसी बीच टेलीफोन घनघनाया. अनमने भाव से ही आंखें खोल कर उन्होंने देखा. उन्हें डर था कि टेलीफान किसी पेशेंट-वेशेंट का न हो, लेकिन दूसरे ही क्षण अपने शंकालु मन पर उन्हें हंसी आयी. पेशेंट होता तो घर में टेलीफोन करता! क्योंकि यह तो सभी लोग जानते हैं कि नौ बजे के बाद वे घर पर ही हुआ करते हैं... उन्होंने चोंगा उठाया और कहा, "सच वासंती, पिछले जनम में तुम जरूर कोयल थीं!"

"इतनी तो काली-कलूटी नहीं हूं मैं!" वासंती ने खिलखिला कर कहा.

तुम्हारे रंग का नहीं, आवाज का जिक्र कर रहा था मैं! टेलीफोन की आवाज में भी इतनी मधुरता..."

"खैर छोड़िए भी. आप तुरंत चले आइए! कुछ मेहमानों को भोजन पर बुलाया है मैंने."

"मेहमानों को?"

"जी, बहुत बड़े मेहमान!"

"बहुत बड़े मेहमान?"

"जी बेशक! जरा दिमा" तो चलाइए! यकीनन आप नहीं

■ विष्णु सखाराम खांडेकर: 19 जनवरी, 1898 को सांगली में जन्मे इस कथाकार को उपन्यास 'ययाति' के लिए 1974 का भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रदान किया गया, जिसे साहित्य अकादमी पुरस्कार भी मिल चुका है. भारत सरकार ने इन्हें पद्म विभूषण की उपाधि से भी अलंकृत किया है. मराठी लघुकथा को स्वतंत्र साहित्यिक विधा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी खांडेकर को ही दिया जाता है.

बता पायेंगे! हर गलत नाम के लिए आपको पांच रुपये देने पड़ेंगे और आपने पहचान लिया तो! तो मैं आपको... बोलिए मंजूर है आपको?"

"पहले यह तो बताओ कि तुम मुझे क्या दोगी?"

"एक बिल्कुल ही अनोखी चीज..."

"खूबसूरत अमलतास दोगी?"

"जी हां, वैसा ही कोई दूसरा फूल यानी कि आपकी दोस्त..."

"कोई भी लड़की मेरी दोस्त नहीं है!"

बंबई का एक मशहूर डॉक्टर होते ही आपने उसे भुला दिया हो सकता है! लेकिन वह आपको बराबर याद करती है, बल्कि याराना अंदाज में आपके बारे में बताती है! उसका नाम याद नहीं आया ना? 'दुर्गा बर्वे... याद आया?"

"दुर्गा बर्वे! डॉक्टर के मुंह से बरबस निकल पड़ा. वे हैरत में पड़ गये कि इतना छोटा-सा नाम उच्चारण करते हुए भी उनके स्वर में किस कदर मायूसी छा गयी थी.

प्रत्येक व्यक्ति में कुछ काव्यात्मता होती ही है और उसके भीतर एक छोटा-बड़ा अभिनेता भी छिपा रहता है. दिल को छूने वाली कोई घटना होते ही दिल के तार झनझना उठते हैं और उसकी अभिनय क्षमता भी ऐसे मौकों पर रंग लाती है. फिलहाल डॉक्टर उसी भावोत्कट माहौल में पहुंच गये थे. विस्मृति की गर्त में छिपा कोई नाम... किसी अजीज दोस्त का नाम अचानक सुनते ही फिर वही नाम बरबस मुंह से निकल पड़ने की भावोत्कटता...! उसमें स्नेह, अपनापा, आश्चर्य, कौतूहल-सभी कुछ था.

वे हकबकाये-से रह गये, लेकिन वासंती का किलकना बाकायदा जारी रहा, "मैंने कहा, आप फौरन आ जाइए. मैंने दुर्गा बाई को साढ़े नौ बजे का समय दिया है. आती ही होंगी वे. जल्दी कीजिए आप! आपसे बतियाने का समय नहीं है यह. अभी टेबुल पर खाना भी तो लगाना है!"

चोंगा रखकर डॉक्टर वहीं के वहीं ठिठक गये. फौरन कपड़े ठीक-ठाक कर तुरंत चल पड़ने की बजाय वे सोचने लगे कि अब दुर्गा कैसी दीखती होगी, इतने दिन क्या करती रही होगी, अब क्या काम करती है, शादी-ब्याह... आदि कई सवालों ने उन्हें घेर लिया. बचपन में सुने हुए किसी मनपसंद गाने की धुन बरसों बाद सुनने को मिले तो आदमी का ठिठकना, हैरत में पड़ना, उन सुमधुर स्वरों की टोह में बेचैन होना स्वाभाविक था, लेकिन उन्हें उस सुमधुर धुन के शब्द याद नहीं आ रहे थे.

बारिश रुकने का नाम नहीं ले रही थी. ज्वार के समय किनारे की ओर आती हर लहर विकट हास्य करते हुए शुभ्र-धवल फेन के निशान छोड़ जाती है. और यह क्रम निरंतर जारी रहता है. पानी भी ठीक उसी अंदाज में बरस रहा था मानो आकाशस्थ जलसागर में ज्वार आया था और बरसने वाले जल की प्रत्येक धारा उसी ज्वार की विशाल लहर थी. सड़कों पर पानी भर गया था. कोई वाहन आस-पास से गुजरने की आहट पाकर अपने कपड़ों पर पानी के छींटों की नक्काशी से बचने के लिए लोग संभल-संभलकर चल रहे थे. वाहनों के शीशों से फिसलती पानी की बूंदें किसी हीरे-जवाहरात की दूकान में सजी मोतियों की लड़ियों की याद दिला रही थीं. सड़क के पानी में आसपास की रोशनी के कारण कई तरह के प्रतिबिंब दिखाई पड़ रहे थे. सामान्यतया घर जाते समय डॉ. विश्वनाथ ऐसे नजारे बड़े चाव से देखा करते थे, लेकिन आज कोई दृष्य उन पर अपनी छाप नहीं छोड़ पा रहा था. गाड़ी में पीछे की सीट पर एक कोने में बैठे डॉ. विश्वनाथ अपलक चारों ओर देख तो रहे थे, पर उन्हें किसी बात का कोई एहसास नहीं था. ड्राइवर के सामने के शीशे पर वाइपर बराबर चल रहा था तो उन्हें लग रहा था कि विस्मृति की गर्त में खोयी घटनाओं पर भी वाइपर चलने से वे साफ-सुथरी होकर एक-एक करके उनके सामने आ रही हैं. देखते ही देखते बारह-चौदह वर्षों पहले का घटनाचक्र उनकी आंखों के सामने साकार होता रहा. वह दिन भी...

जिस दिन उन्होंने पहले-पहल दुर्गा को देखा था. जाड़े का मौसम था! प्रातःकाल की सुनहरी किरणों से अठखेलियां करते हुए वे छत पर चहलकदमी कर रहे थे. इसी बीच कुछ शोर-शराबा उन्हें सुनाई पड़ने लगा था. धीरे-धीरे वह करीब आता रहा. शायद वह प्रदर्शनकारी लड़कियों के नारों का शोर था.

'वंदे मातरम्', 'महात्मा गांधी की जय!' 'खूनी सरकार गिरा दो' आदि नारे लग रहे थे. मजमा अभी उनके घर के सामने पहुंचा ही था कि पुलिसवालों ने उन्हें रोक लिया, लेकिन लड़कियां थीं कि हार मानने को तैयार ही नहीं थीं! उनका नेतृत्व एक कमसिन षोडषी कर रही थी. उसने सीना तानकर पुलिसवालों को कहा, "आप बेशक गोली चला सकते हैं, लेकिन हम तो डटे रहेंगे." यह सुनकर पुलिस अधिकारी भी भौंचक्का रह गया था. बड़े गर्व के साथ उस लड़की ने चारों ओर नजर दौड़ायी तो वे उसका चेहरा देख पाये थे. उन आंखों की वह तेजस्विता, घने-लंबे बाल और आकर्षक कद. दोपहर भर लड़कियां कड़कती धूप में डटी रहीं. हाथ में तिरंगा थामे वह गोरी लड़की भी धूप में झुलसती रहीं तो उसके चेहरे पर लाली चढ़ आयी थी. माथे से पसीना भी चू रहा था, लेकिन वह टस-से-मस नहीं हुई थी. उस दिन कई बार टकटकी लगाये वे उस लड़की को घूरते रहे थे.

उसके बाद एक सम्मेलन में उसी लड़की से वास्ता पड़ा. मई महीने में पुणे में लेखकों का एक सम्मेलन आयोजित किया गया था, जिसमें वे लोग शामिल हुए थे. किसी परिचित व्यक्ति ने जबरदस्ती एक टिकट उसके मत्थे मढ़ दिया था. इसीलिए उसमें शामिल होना पड़ा था. उसी के दौरान दुर्गा ने मंच पर एक भावगीत गाया था. कितनी कशिश और मिठास थी उसकी आवाज में! उन्हें लगा कि शायद वह कविताएं भी लिखती है. लोगों ने उसे अपनी कुछ कविताएं सुनाने का आग्रह भी किया था, लेकिन वह मानी नहीं.

उसके कुछ ही समय बाद दुर्गा के भाई से उनका परिचय हुआ और वह बढ़ता ही गया. इसी बीच दुर्गा अपने भाई के साथ उनके घर भी आयी थी. एक दिन दुर्गा का भाई 'एकच प्याला' नाटक के तीन टिकट ले आया, लेकिन संयोगवश उसी दिन अचानक किसी काम से उसे बाहर जाना पड़ा. इसलिए वे दोनों ही नाटक देखने गये थे. नाटक समाप्ति के अंतिम चरण में था. सिंधू ने 'सत्यवदे वचनाला' पद गाकर सुधाकर के चरन छूते हुए प्रतिज्ञा ली कि वह किसी से फूटी कौड़ी भी नहीं मांगेगी.

दर्शकों में से कुछेक की आंखों में नमी छा गयी, लेकिन ठठाकर हंसते हुए दुर्गा ने कहा था, "सिंधू की जगह यदि मैं होती तो पता है क्या करती?"

"घर छोड़कर चली गयी होतीं?"

"जी नहीं जनाब. भीतर से घड़े भर-भर कर ठंडा पानी लाती

तो ययाति नहीं, बाबर लिखता !

■ वि. स. खांडेकर

बचपन में जब मैंने ययाति की कथा पढ़ी थी उस समय इस कथा में वर्णित बुढ़ापे की जवानी में और जवानी की बुढ़ापे में, एक क्षण के भीतर हो जानेवाली दिलचस्प अदल-बदल वाले अद्भुत प्रसंग ने मुझे आकर्षित किया होगा, लेकिन उस समय मैं यह बिल्कुल न समझ पाया कि देवयानी से विवाह होते हुए भी ययाति शर्मिष्ठा से क्यों प्रेम करने लगता है और दोनों से पांच पुत्र होने के बाद भी वह यह क्यों कहता है कि "मेरी सुखोपभोग की इच्छा अब तक अतृप्त है!" यही नहीं, बल्कि अपने पुत्र के तारुण्य को स्वयं हड़प लेनेवाले ययाति पर मुझे बड़ा क्रोध भी हो आया था.

उस समय मैंने बाबर की भी एक कहानी पढ़ी थी, जिसमें बाबर अपने पुत्र हुमायूं की मृत्यु शैया के पास खड़ा हुआ ईश्वर से प्रार्थना कर रहा था कि "ए खुदा, मेरी बची हुई जिंदगी मेरे बेटे को बख्श दे." बाबर का अपने पुत्र के प्रति यह प्रेम देखकर गद्गद् हो गया था. उस बाल्यावस्था में यदि कोई प्रकाशक मुझसे उपन्यास मांगने आता तो 'ययाति' के बदले में निश्चित ही 'बाबर' उपन्यास लिखकर देता.

प्र. : वीज

और पति का दिमाग ठंडा होने तक उंडेलती रहती उस पर!"

आस-पास के दो-चार दर्शक यह टिप्पणी सुनकर मुस्कराये थे, लेकिन दुर्गा बेअसर होकर कहती रही थी, "नारी के जज्बातों को मैं अच्छी तरह से जानती हूं! प्रीत और भक्ति-दोनों उच्च कोटि की भावनाएं हैं, यह भी मुझे पता है! लेकिन अंध भक्तिन—स्वप्न में दिये वचन की पूर्ति, दारू के नशे में धुत्त पति के चरण छूकर प्रतिज्ञा करना! छी: ऐसी भी कोई भक्तिन हो सकती है भला? कहां की नीति है यह?"

अंतिम प्रवेश शुरू होने तक वह काफी बड़बड़ाती रही थी, लेकिन उनका ध्यान उसकी बातों की ओर था ही नहीं! रात की रोशनी में उसकी आंखों से छलकती आभा, उसकी खूबसूरती का आकर्षण, अस्त-व्यस्त घने, काले बालों के बीच खिला हुआ उसका मुख-कमल.

बाद के दो-एक वर्षों में दुर्गा के प्रति उनका यह आकर्षण बढ़ता ही गया था. छुट्टियों में बंबई से पुणे आने पर विश्वनाथ उसके साथ घंटों घूमते रहते थे. उस दौरान जर्मनी में हो रहे वैज्ञानिक अनुसंधान और खोज कार्यों की जानकारी वे उसे दिया करते थे. लुई पाश्चर और क्यूरी के चरित्रों की महत्वपूर्ण बातों से वे उसे अवगत कराते थे, लेकिन यदा-कदा दुर्गा ऐसा कोई ऊल-जलूल वाक्य बोल देती कि सारा मजा किरकिरा हो जाता था! एक बार उसने कहा था, "यदि हम लोग जिंदगी भर इसी तरह चलते रहे तो भला कहां पहुंचेंगे? क्षितिज पार कर जायेंगे?" दो-चार मील चलने के बाद वह विश्राम के लिए रुक जाती थी! फिर बैठे-बैठे किसी कविता या गीत की दो चार पंक्तियां गुनगुनाया करती! पूरी कविता कहने की उसकी आदत नहीं थी. उसकी ऐसा ही किसी कविता की चंदेक पंक्तियां मुझे याद आती हैं.

चुकल्या चुकल्यापरि
वाटते अंतरि!
होयुनि बावरि
निजध्येय मी पाहतसे!

भीतर ही भीतर मुझे लग रहा है कि कहीं कुछ गलत हुआ है. इसलिए मायूस होकर मैं किसी सहारे की तलाश में हूं.

सन् बयालीस के मई में जब मैं पुणे गया तो उन्होंने तय कर लिया था कि बंबई में प्रैक्टिस शुरू करनी है. वहां पहुंचने के दूसरे ही दिन वे दोनों तफरीह करते हुए काफी दूर निकल गये थे. इसी बीच अचानक

मराठी काव्य-साहित्य बाल-बाल बच गया!

■ वि. स. खांडेकर

कालेज में कदम रखते ही उषा-स्वप्न की कथा पर आधारित 'स्वप्न-संगम' नाम से एक महाकाव्य लिखना मैंने आरंभ किया था. उस महाकाव्य में कितने सर्ग होंगे, प्रत्येक सर्ग में किन-किन वृत्तों का उपयोग करूंगा, प्राचीन कवियों के काव्य से कौन-कौन-सी कल्पनाएं चुराऊंगा इत्यादि सब बातों की मैंने पूरी तैयारी कर ली थी, परंतु मेरा वह महाकाव्य दुर्भाग्य से लघुतम काव्य ही सिद्ध हुआ. बेचारा पूरा पहले सर्ग तक भी न पहुंच पाया. इसका कारण यही होना चाहिए कि उसे लिखने की स्फूर्ति मेरे हृदय से नहीं आयी थी. उसका उद्गम स्थान शायद मेरी उम्र में रहा होगा.

पच्चीस की तरह सोलह वर्ष की उम्र के बारे में सुभाषितकार बुरा नहीं कहते.

मेरे महाकवि बनने का वह संयोग, जिसे सच पूछा जाये तो मराठी काव्य-सृष्टि पर आनेवाला एक महान संकट कहना चाहिए, इस प्रकार टल गया। प्र. : वीज

बादल घिर आये और तेज वर्षा होने लगी थी, बे-मौसमी वर्षा!

उन्होंने सुझाव दिया था कि दौड़कर किसी झोपड़ी में सहारा लेंगे. उस समय चिकोटी काटते हुए दुर्गा ने कहा था, "विश्वनाथ, अंग्रेजों के राज्य ने देश के पुरुषों को जैसे निर्वीय बना दिया है और क्षुद्र भी! गुसलखाने में शॉवर में घंटों नहाने का मजा लेते रहेंगे, लेकिन इस प्राकृतिक शॉवर में सतरंगी इंद्रधनुष की मनुहारी सजावट के माहौल में कुछ पल भीगना मंजूर नहीं! आप लोग तुरंत दड़बे में जा छिपने की कोशिश करते हैं! है न कमाल की बात! संस्कृत में मेरा कोई दखल नहीं! वरन् मैं तो खड़ी आवाज में पर्जन्यसूक्तों का पाठ करती! समझे. . . ?"

उस दिन पानी से सराबोर होकर ही वे लौटे थे. नये सूट की इस कदर धज्जियां उड़ जाने से दिल खट्टा तो जरूर हुआ था, लेकिन दुर्गा काफी खुश थी. उसने कहा भी था, "पलकें क्यों झुका रहे हैं आप विश्वनाथ? अच्छी तरह से मुझे देखिए! भरी बारिश में अपने प्रियतम से मिलने के लिए चल पड़ी वसंत सेना की भूमिका मैं बखूबी साकार करूंगी. यदि इस तरह का कोई नाटक खेला जाये तो उसमें चारुदत्त बनना क्या आप पसंद करेंगे?"

वे एक-दूसरे के काफी निकट आ गये थे. हम दोनों के घरवालों की धारणा हो गयी थी कि हम विवाहबद्ध हो जायेंगे. विश्वनाथ को भी यकीन हो चला था. लेकिन सन बयालीस के शुरू में ही दुर्गा राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़ी थी. उसके दो-तीन माह बाद एक दिन अचानक मेरे पास आकर उसने कहा था, "आप राष्ट्रीय आंदोलन में बिलकुल भी सहयोग नहीं देते! क्यों?" बल्कि उसने काफी खरी-खोटी सुनायी थी. प्रैक्टिस शुरू करने के साथ ही इस तरह के किसी आंदोलन से उनका जुड़ जाना क्या उचित था? कतई नहीं! इसके विपरीत, उस दिन उन्होंने भी अपने समर्थन में खूब जोर जोर से कई तर्क प्रस्तुत किये थे. उन दिनों में पहली बार इतनी जोरदार झड़प हुई थी. तिस पर दुर्गा चुपचाप उठकर चली गयी थी.

उसके बाद केवल एक बार ही वह मिल पायी थी. वह भूमिगत हो गयी थी. उसे पकड़ने के लिए सरकार ने पुरस्कार की घोषणा की थी. उसकी वीरता, साहस, उत्साह, पुलिसवालों के चंगुल से बच निकलने का कमाल आदि कई विशेषताओं के सच्चे-झूठे किस्से सुने जा रहे थे. इसी बीच एक दिन देर रात गये उनके घर आ धमकी. बुझी-बुझी-सी आंखें और क्षीण काया. वह ढंग से खड़ी भी नहीं हो पा रही थी. उसे बिछौने पर लिटाने के उद्देश्य से उसे छूते ही वे चिहुंक उठे! वह बुखार में तप रही थी. उसे कुछ दवाई आदि पिलाकर उन्होंने आराम करने के लिए कहा था. सवेरे वह कब जग गयी थी, पता नहीं, लेकिन उसके होंठों के सुखद स्पर्श से ही उनकी आंख खुली थी! उनका माथा क्या चूमा उसने, उनके तन-बदन में एक बिजली-सी कौंध गयी थी. उन्हें लगा था कि उसी क्षण उसे. . .

लेकिन दूसरे ही क्षण मुस्कराकर उसने कहा था, "विश्वनाथ, आपने 'विरहतरंग' काव्य पढ़ा नहीं शायद! काव्य के अंतिम हिस्से में नायक को जगाने के लिए उसका मुंह चूमती कवि-कल्पना को मैंने आज साकार किया है. आप अभी सोये पड़े हैं! उठिए! आंखें खोलिए!" कहकर वह कुछ अजीब से अंदाज में उनको घूरती रही थी.

लेकिन उनके बिछौने से उठने से पहले ही वह चली गयी थी. तिस पर उन्हें लगा था कि कहीं तेज बुखार का दौरा तो नहीं पड़ा होगा! वह कुछ इसी तरह से पेश आयी थी.

लेकिन उसके बाद उसे मिलने का मौका नहीं मिला. इतना भर पढ़ने को मिला कि गांधीजी के आह्वान पर आत्म-समर्पण कर उसने जेल काटना स्वीकार किया है, लेकिन राजनीतिक बंदियों की मुक्तता के साथ ही वह भी जेल से बाहर आ चुकी थी. फिर उसके बाद. . .

डॉ. विश्वनाथ ने हड़बड़ाकर आंखें खोलीं. ड्राइवर उन्हें बड़े ही अदब से 'साहब-साहब' कहकर जगा रहा था. बारिश अब थम चुकी थी. उन्होंने बायीं ओर के शीशे में से झांका. कार उन्हीं के बंगले के पोर्टिको में खड़ी थी. प्रवेश द्वार पर ही वासंती सज-धजकर उनके स्वागत के लिए तैयार थी.

केवल वासंती ही नहीं सजी थी, बल्कि ड्राइंग रूम और डाइनिंग हाल की सजावट भी बदली-सी नजर आ रही थी. इस बदले हुए माहौल को देखकर डॉ. विश्वनाथ ने मुस्कराते हुए पूछा, "क्या आज तुम्हें देखने के लिए लड़केवाले आ रहे हैं?"

तिस पर वासंती ने तुनककर जवाब दिया, "जी हां, दुर्गाबाई आ रही हैं!"

उसके इस उलाहने का दुख उनकी समझ में तो नहीं आया, पर वासंती के सुगंधित बदन को देख कर उन्हें लगा कि 'दुर्गा इतनी खूबसूरत नहीं रही हो सकती. यदि वह आंदोलन में न कूद पड़ती तो. . . तो वासंती जैसी अप्सरा पत्नी उन्हें कहां से प्राप्त होती!'

दोपहर में महिला-मंडल की एक बैठक में दुर्गा और वासंती का आमना-सामना हुआ था. हुआ यूं कि महिला-मंडल में जिस अतिथि महिला का भाषण होना था, उनके अचानक कुछ मेहमान आ जाने के कारण उन्होंने कार्यक्रम में आने में अपनी असमर्थता व्यक्त की. ऐसी स्थिति में परेल इलाके में सामाजिक कार्य से संबद्ध एक महिला को सचिव ले आये. उस महिला ने सुखासीन और धनी परिवारों की महिलाओं को खूब खरी-खरी सुनायी. खासकर भाषण के कुछ ही पहले सुनाई पड़े 'हम जल्दी ही एक कार खरीदने जा रहे हैं' वाक्य की पूंजी बनाकर उसने धनी महिलाओं का मखौल उड़ाया. शायद वह वाक्य वासंती के मुंह से सुना था उसने. बैठक समाप्त होने पर किसी ने उस महिला को बताया कि वासंती डॉ. विश्वनाथ की पत्नी है. यह सुनते ही महिला वक्ता का नूर बदल गया. उसने छूटते ही कहा, "आपके पति से मिलने आऊंगी मैं एक बार." उसे शर्मिंदा करने के उद्देश्य से वासंती ने उसी रात को उसे खाने पर आने का अनुरोध किया.

पूरा वाकया सुनने के बाद डॉ. विश्वनाथ को इस अनोखी सज-धज का रहस्य पता चला. वासंती को सांत्वना देते हुए उन्होंने कहा, "तुम दुर्गा की बातों का बुरा मत मानो. वह बचपन से ही सनकी मिजाज की है! और इसके अलावा देशभक्ति का भूत सवार है उस पर! यानी कि करेला और वह भी नीम चढ़ा! पिछले दिनों एक प्रोफेसर किसी बैठक में देश की शिक्षा प्रणाली में सुधार लाने की दृष्टि से कुछेक सुझाव दे रहे थे. उनकी बातें चुपचाप सुन लेने की बजाय बैठक में उपस्थित एक सरकारी अधिकारी ने क्या कहा, पता है तुम्हें? कहने लगा, "क्या एक बार भी आपने जेल की हवा खायी है? देश की खातिर हम गोलियां झेल रहे थे और आप आराम से एक कमरे में बैठकर किताबों के पन्ने उलटने-पुलटने में लगे हुए थे. हमारी गलतियों पर उंगली रखने का आपको क्या अधिकार है? दुर्गा भी शायद उन्हीं पद-चिन्हों पर चल रही होगी! लेकिन मुझे पूरा यकीन है कि उसका रूप कोई भी हो गया हो, वह प्याज की पकौड़ी आज भी उतने ही चाव से खाती होगी."

पति के मुंह से यह आखिरी वाक्य सुनकर वासंती चिहुंक उठी, "अच्छा! तो टेलिफोन पर पहले ही क्यों नहीं बताया आपने मुझे."

डॉ. विश्वनाथ ने हंसकर जवाब दिया, "मैं अस्पताल में काम कर रहा था, किसी होटल में नहीं."

अनमने भाव से भीतर जाते हुए वासंती ने कहा, "मर्द होते ही ऐसे हैं! छोटी-छोटी बातों का महत्व तो उन्हें पता ही नहीं चलता."

विश्वनाथ ने दीवार-घड़ी में देखा. रात के पौने दस हो रहे थे. दुर्गा अब किसी भी क्षण आ सकती है, इस विचार से वे बेचैन हो गये. इस बेचैनी की वजह वे खुद भी नहीं जानते थे. वह केवल उत्कंठा और अधीरता नहीं थी, दिल की धड़कनें बढ़ानेवाला कौतूहल था. वे सोच रहे थे कि दुर्गा अब कैसी दीखती होगी, उन्हें देखते ही वह कौन-कौन से सवाल करेगी, उन दोनों के पुराने प्यार के रोमांचक वाकये उसे याद आयेंगे या उसकी अनुमति के बिना वासंती से विवाहबद्ध हो जाने की बात पर वह उनसे नाराजगी व्यक्त करेगी. . .

कालबेल बजने लगी तो नौकरों से पहले डॉ. विश्वनाथ ही स्वयं किवाड़ खोलने के लिए चल पड़े. सिटकनी खोलते हुए उनके हाथ कांप रहे थे. अगले ही क्षण दुर्गा उनके सामने खड़ी थी. दुर्गा! वह तो दुर्गा नहीं हो सकती, दूसरी ही कोई प्रौढ़ महिला होगी! उन्होंने एक बार फिर गौर से देखा.

हंसते हुए उस महिला ने भीतर प्रवेश किया और कहा, "हकबकाये से क्या देख रहे हैं आप? क्या मैं दुर्गा नहीं लगती?"

"इतनी!" बस, इतना ही एक शब्द उनके मुंह से निकल पड़ा. गुलाब के पौधे पर मस्ती से इतराता-इठलाता गेंदई फूल पौधे से अलग होते ही इस कदर कुम्हला सकता है! उन्होंने फिर एक बार उसे गौर से देखा. अब उसके घने, काले बालों में वह आकर्षण नहीं रहा था. और हां! एक-दो-तीन-चार—उसके बाल भी तो सफेद हो रहे हैं. आंखों के नीचे की ओर छायी कालिख, कोटरों में धंसी आंखें और पिचके हुए गाल—केवल पांच-छह वर्षों में इतनी विरूपता!

ड्राइंग रूम में आकर दुर्गा ने कहा, "आपके बच्चों को देखने आयी हूं! कहां हैं बच्चे! सो रहे होंगे! है न! फिर भी देख तो लूं जरा!"

डॉ विश्वनाथ उसे दूसरे कमरे में ले गये, जहां बच्चे सो रहे थे. ममता से बच्चों की ओर देखते हुए उन्होंने बतलाया, "यह जयप्रकाश है और ये है अरुणा."

उन्मुक्त हंसी हंसते हुए दुर्गा ने कहा, "आपके घर में क्रांति बच्चों के नामों तक ही सीमित लगती है! खैर, आप अकेले थोड़े ही हैं ऐसी सूची में! अभी तो हमारी क्रांति भी जहां केवल एक ढकोसला मात्र है, वहां आप पर तोहमत लगाना. . .!"

बच्चों के सिरहाने के पास खड़े होकर उनके बाल सहलाने में वह संतुष्ट हो रही थी. उसने बड़ी ही आत्मीयता के साथ डॉ. विश्वनाथ से कहा, "बहुत ही प्यारे बच्चे हैं! उन्हें प्यार से चूमने को दिल करता है! लेकिन मेरा नियंत्रित रहना ही बेहतर होगा, वरना बच्चे जाग जायेंगे. रोने लगेंगे और आप मन-ही-मन मुझे कोसते रहेंगे!"

वे फिर ड्राइंग रूम में आ गये. इसी बीच खाने के लिए बुलावा आ गया. वासंती और दुर्गा आमने-सामने बैठी थीं और विश्वनाथ दोनों के बीच में टेबुल के दूसरी ओर. दुर्गा की बातें निरंतर जारी रहीं. वह अतीत की स्मृतियां सुनाती जा रही थी. जेल के मजेदार किस्से सुनाने लगी थी. गांधीजी की आज्ञानुसार आत्मसमर्पण कर जेल जाने से पहले वह उनसे मिलने गयी थी. उनसे मिलने के उन चंदेक मिनटों में ही उसे किस तरह ऊर्जा प्राप्त हुई और वह उनसे किस तरह प्रभावित हुई, इसकी लंबी-चौड़ी कहानी भी उसने सुनायी. खाने की अपेक्षा वह ज्यादा बोल रही थी. डॉ. विश्वनाथ केवल 'हूं-हूं' करते रहे और वासंती मूक श्रोता बनकर रह गयी. अनजाने में ही डॉक्टर विश्वनाथ वासंती और दुर्गा की तुलना करने लगे. वासंती किसी कुशल कारीगर की कलात्मकता का असाधारण नमूना लग रही थी, जबकि दुर्गा किसी नौसिखिये कलाकार की खुरदुरी और बेडौल कृति, लेकिन वासंती की कलात्मक आकृति मन को खटकने वाली जड़ता थी, जबकि उस कलाहीन चित्र में आह्लादक सजीवता का एहसास होता था. जैसे ही यह विचार उनके मन में दृढ़ होने लगा, खाने की ओर उनका ध्यान कम होता रहा. अपनी इस मानसिकता से राहत पाने के इरादे से उन्होंने पूछा, "लेकिन तुमने यह तो बताया ही नहीं कि आज-कल कहां रहती हो, क्या करती हो."

"मैं भला क्या करूंगी? एक कारखाना शुरू करने का विचार है!"

"क्या मतलब!"

दुर्गा ने खिलखिलाकर कहा, "मेरी बातें कई लोग समझ नहीं पाते. उन्हें लगता है कि मैं पागल हो गयी हूं, लेकिन शायद आप इसके अपवाद होंगे. पिछले छह वर्षों के मेरे अनुभवों का निचोड़ है यह. आजकल हम जिन्हें इंसान समझते हैं, उनमें से निन्यानवे प्रतिशत कठपुतली होते हैं. कुछ कठपुतलियां रंग-बिरंगी होती हैं तो कुछेक अत्यंत सादी, कुछेक खुरदरी तो कुछेक हसीन और आकर्षक, कुछेक सजी-संवरी तो बाकी अर्थहीन और अनाकर्षक—लेकिन उन सबकी नियति एक ही होती है. देशभक्त, व्यापारी, शिक्षक, लेखक आदि बड़े-बड़े महानुभावों के बीच में रह चुकी हूं! लेकिन उनमें भी जिंदादिल इंसान इक्का-दुक्का ही होते हैं! हर जगह कायिक गुलामी, वासनिक पाबंदियां, वैचारिक अधीनता, आर्थिक पराधीनता——कुल मिलाकर केवल गुलामी और गुलामी. अपना देश तो आजाद हो गया, पर हमारी मानसिक गुलामी अभी भी बरकरार है! और इसी मानसिकता में परिवर्तन लाये बिना, उसे सजग, सतर्क बनाये बिना सब व्यर्थ है. और यही. . ."

'लेकिन मानसिक संस्कार कराने का काम तो मां-बाप का है. स्कूल-कालेजों का है, महापुरुषों और नेताओं का है."

डॉ. विश्वनाथ की इस सफाई पर दुर्गा को हंसी आयी. उसकी हंसी देखकर उन्हें याद आया अतीत का वह क्षण, जब मूसलाधार बारिश में वे भीग रहे होते और वह उनका हंस-हंस कर स्वागत किया करती थी, लेकिन तुरंत अपनी हंसी रोकते हुए दुर्गा ने कहा, "आप दृष्टि-विहीन हैं विश्वनाथ, हमारे घरों में बच्चे पैदा होते हैं. वहीं उनका शारीरिक विकास होता है. हमारे स्कूल-कालिजों में उन पर वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर आदि लेबिल चिपकाये जाते हैं तथा हमारे लेखक-साहित्यकार एवं नेतागण इन्हीं लेबिलवाले पुतलों के इशारों पर अपनी कलम घिसते हैं, उन्हीं के गुण-गान में नारे लगाते हैं, गीत गाते हैं. जिंदादिल इंसान इस प्रकार थोड़े ही बनते हैं. उसके लिए प्रत्येक बालक के भीतर मौजूद अग्निबीज की टोह लेना आवश्यक होता है. उस पर जमी राख को हटाकर उसे सहेजना पड़ता है, गलत जगह पर पनपकर वह आफत की जड़ न बने—इस ओर पूरा ध्यान देना पड़ता है—तब कहीं वह सच्चा इनसान कहलाने लायक बनता है."

वासंती दोपहर में ही इस महिला का प्रलाप सुन चुकी थी. उसे भय था कि कहीं अब भी वही क्रम दुहराया न जाये. इसलिए उसने आंखों से डॉ. विश्वनाथ को इशारा किया, लेकिन वे तो पूरी तरह से 'दुर्गामय' हो चुके थे. इसी बीच टेलीफोन बज उठा.

टेलीफोन अस्पताल से आया था. सेठजी की पत्नी ने ही डॉ. विश्वनाथ का शुक्रिया अदा करने के लिए यह कष्ट किया था. वासंती ने चोंगा उठाया और बातचीत की. उसके बाद भोजन समाप्त हुआ, पान-सुपारी का दौर चला. फिर भी, वह टेलीफोन पर हुई बात-

एक राजनीतिक व्यंग्य

बकरी ▣ वि. स. खांडेकर

किसी पहाड़ी पर रास्ते के बीच में ही एक गड्ढा था. पहाड़ी पर चारों तरफ हरियाली और झाड़-झंखाड़ थे. वहां चरने वाली बकरियों को भला वह गड्ढा कहां से दिखाई पड़ता!

चरते-चरते सबसे पहले नंबर की बकरी धोखे से उस गड्ढे में गिर पड़ी तो दूसरे नंबर की बकरी को लगा कि जरूर उस गड्ढे में कोई खास चीज होगी. आगे-पीछे का कोई भी विचार किये बिना वह भी उस गड्ढे में जा गिरी.

एक-दो-तीन-चार-पांच . . . सिलसिला जारी रहा.

धीरे-धीरे वह गड्ढा भरने लगा. लेकिन सबसे आखिरी बकरी ने अपनी अन्य सहेलियों का अनुकरण किये बिना; बल्कि उनके सिर पर बड़े ही शान से कदम रखकर आगे निकल जाने का साहस दिखलाया.

और आगे निकल जाने के बाद पीछे मुड़कर कहा, "बुद्धू कहीं की! रास्ते में पड़े गड्ढे भी दिखाई नहीं देते?"

तब से इस देश में गड्ढे बनवाये जाने लगे और उन्हें इसी पद्धति से पटवाकर आगे निकल जाने का सिलसिला शुरू हो गया, जो अभी भी जारी है. □

चीत का ही बार-बार जिक्र करती रही. वह बार-बार यही जतलाने की कोशिश करती रही कि उसके पति ने किस खूबी से एक धनवान सेठ को जीवन-दान दिया, "इस बात का लोगों को पता चलेगा, हजारों-लाखों की कमाई होने लगेगी और एक ही कार क्यों, जो मैं कहूंगी, वह चीज मेरे सामने हाजिर हो जायेगी." मधुयुक्त पुष्प पर सदैव मंडराती मधुमक्खी-सी वह घूम-फिरकर यही एक बात कहने लगती.

दुर्गा ने कोई प्रतिवाद नहीं किया. वह जाने को हुई. डॉ. विश्वनाथ उसे अपनी कार में छोड़ आने का आग्रह करते रहे, लेकिन वह हर बार मना करती रही. उसने कहा, "अकेली के लिए इतने महंगे मोल का पेट्रोल फूंकने की कोई जरूरत नहीं. उसके बजाय तुम उतने ही पैसे मुझे दे दो. मेरे गरीब साथियों के काम आयेंगे."

वासंती को दुर्गा का यह जवाब कुछ टेढ़ा ही लगा, लेकिन इसी बीच डॉ. विश्वनाथ ने कहा, "दुर्गा, बचपन से तुम ऐसी ही जिद्दी हो. अब रात के साढ़े दस बज रहे हैं और तुम अकेली ही स्टेशन तक पैदल जाना चाहती हो."

"अकेली जाने की जिद्द थोड़े ही कर रही हूं मैं? चाहें तो आप मेरे साथ चल सकते हैं! इसी बहाने थोड़ी-सी चहलकदमी भी हो जायेगी!" बादल तो छाये हुए थे, लेकिन वर्षा थम गयी थी, लेकिन वासंती को यह रास नहीं आ रहा था कि केवल दुर्गा की जिद पूरी करने के लिए दिनभर के थके-हारे डॉ. विश्वनाथ उसके साथ पैदल स्टेशन तक चले जायें. वह कुछ कहने ही वाली थी, लेकिन डॉ. विश्वनाथ हाथ में छाता लेकर जाने के लिए तैयार हो चुके थे.

"रेनकोट तो ले लेते." वासंती ने फिर भी सिफारिश की, लेकिन उससे पहले वे सीढ़ियां पार कर चुके थे.

दो-चार कदम के फासले पर ही ईरानी होटल था. डॉ. विश्वनाथ झट से भीतर हो लिये. दुर्गा ने भी उनका अनुकरण किया. होटल में कोई खास भीड़ नहीं थी. कोने में एक टेबुल के पास वे शांति से कुछ देर बैठे रहे. कॉफी के प्याले आ गये, लेकिन दो-एक चुस्कियां लेने के बाद ही दुर्गा ठिठक गयी. देखते ही देखते वह किसी चिंता में डूब गयीं.

"दुर्गा, जिंदगी के एक मोड़ पर हम अत्यंत निकट आ गये थे, लेकिन आज हम एक-दूसरे से इतने दूर चले गये हैं कि. . ."

दुर्गा ने अत्यंत गंभीरता से जवाब दिया, "उसका मुझे इतना गम नहीं विश्वनाथ! जिंदगी के सभी रास्ते सीधे नहीं हुआ करते. वे टेढ़े-मेढ़े, ऊबड़-खाबड़, ढलवां-चढ़वां भी होते हैं! मैं यदि आंदोलन से न जुड़ती तो शायद—तो शायद हम दोनों. . . .लेकिन आज आप पर मेरा कोई हक नहीं. इसका मुझे मलाल नहीं. इन छह वर्षों में मैं समझ चुकी हूं कि प्यार यानी अधिकार नहीं है, न ही प्यार कर्तृत्व हो सकता. और प्यार भी सफल हो जाये तो भी उसे एक दुर्घटना ही कहा जाना चाहिए. मुझे दुख इसलिए नहीं है कि मैं आपको अपना नहीं सकी, बल्कि इस बात के लिए कि अपना समझकर जिस विश्वनाथ की पूजा मन-ही मन मैं करती रही थी, पुलिसवालों की निगाहों से बचने के लिए किसी गंदे सीलन भरे कोने में रात-बेरात सोती रही और मच्छरों के गुंजन के बीच भी जिस विश्वनाथ के कर्तृत्व के सपने संजोती रही, वह अदृश्य हो चुके हैं!" डॉ. विश्वनाथ के मुंह से बरबस केवल "दुर्गा!" निकल सका.

दुर्गा आगे कहने लगी, "विश्वनाथ, जो लोग यह कहते हैं कि प्यार अंधा होता है, मूर्ख हैं. आदमी का शरीर अंधा हो सकता है. उसकी वासना अंधी हो सकती है, लेकिन उसकी बुद्धि कभी भी आंखें मूंद कर बैठी नहीं रहती. विश्वनाथ, आज भी मैं आपको उतना ही चाहती हूं. इसी लिए तो आपसे मिलने मैं चली आयी—— लेकिन मुझे अपने उस विश्वनाथ से वंचित ही रहना पड़ा, जिसकी अपेक्षा थी! मेरी मुलाकात केवल वासंती के पति से हो पायी, मेरे अपने विश्वनाथ के बेजान साये के ही दर्शन हो पाये. जर्मनी के डॉक्टरों के समकक्ष शोधकार्य की इच्छा रखने वाला, लुई पास्तर और मदाम क्यूरी की जीवनियां पढ़कर बेचैन होनेवाला, मेरा पूर्व परिचित, संवेदनशील विश्वनाथ पता नहीं कहां खो गया है! आज मैं एक बात की भीख मांगने के लिए आपके पास आयी हूं! आप मुझे वचन दीजिए कि आप उस विश्वनाथ को ढूंढ निकालेंगे, उस विश्वनाथ से मुझे मिलवाएंगे. . . . .केवल एक बार ही सही . . ."

विश्वनाथ से वचन प्राप्त करने के लिए दुर्गा ने हाथ आगे बढ़ाया और विश्वनाथ ने भी उससे हाथ मिलाकर उसे यकीन दिलाया, लेकिन उसके हाथों के स्पर्श में उन्होंने वह ऊष्मा महसूस नहीं की!

दोनों फुर्ती से उठकर स्टेशन की ओर चल दिये, लेकिन स्टेशन के पास ही कार खड़ी देखकर डॉ. विश्वनाथ हैरत में पड़ गये. करीब आकर उन्होंने झांका तो भीतर वासंती बैठी थी और ड्राइवर शायद डॉक्टर साहब को ढूंढने प्लेटफॉर्म पर गया हुआ था. वे एकदम सहम गये. कहीं आपरेशन का केस . . . .

उन दोनों को देखते ही वासंती ने फुर्ती से दरवाजा खोला और कहने लगी, "हाय राम! लगता है, चींटी की चाल से आप चलते रहे! स्टेशन पहुंचने में इतनी देर कर दी? आप घर से चल दिये और डॉ. देशपांडे का टेलीफोन आया कि सेठजी पूरे होश में हैं और फौरन आपसे मिलना चाहते हैं! आपने उन्हें जिंदगी दी तो आपको वे मुंहमांगा इनाम देंगे."

"पहले दुर्गा को ट्रेन में बिठायेंगे और फिर चले चलते हैं . . ."

"जी नहीं! फौरन चलिए, इत्ती-सी बात भी आप समझ नहीं पाते?"

"विश्वनाथ, मैं छोटी बच्ची तो हूं नहीं जो मेरा हाथ पकड़कर आप मुझे गाड़ी में चढ़ायें मैं चली जाऊंगी, आप लोग जाइए."

इसी बीच ड्राइवर भी आ गया. वासंती के इशारा करते ही उसने कार स्टार्ट कर दी. गर्दन हिलाकर डॉ. विश्वनाथ ने दुर्गा को 'अलविदा' कहा. गाड़ी फर्राटे से दौड़ने लगी तो वासंती ने बड़े ही प्यार से विश्वनाथ का हाथ अपने हाथ में ले लिया.

फिर भी डॉ. विश्वनाथ ने अपना मौन नहीं तोड़ा. आसमान में तो बादल थे ही, उनके मन पर भी बदली छायी हुई थी. इसी बीच बिजली की कौंध में उन्होंने वासंती की ओर देखा और उन्हें एहसास हुआ कि उनके करीब एक सजी-धजी कठपुतली बैठी है और 'यह मेरा पति है' 'यह मेरा पति है' कहकर चिल्ला रही है. दो कठपुतलियों की बारात कार में जा रही है . . . . उस धन्ना सेठ का आशीर्वाद प्राप्त करने . . . इस कल्पना से वे अत्यंत बेचैन हो उठे और उन्होंने तुरंत ड्राइवर से कहा, "ड्राइवर, गाड़ी बंगले की ओर ले चलो!" □

▣ अनुवाद : प्रकाश भातंब्रेकर

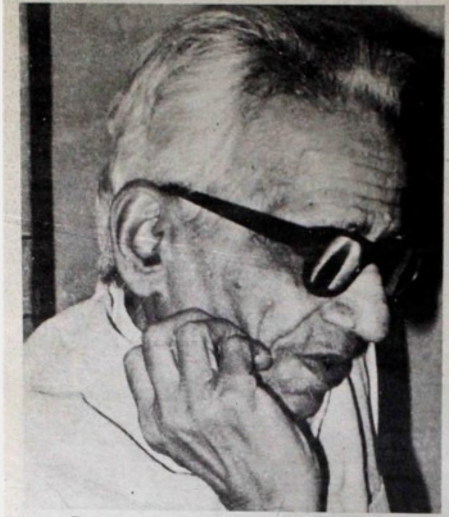

"प्रदेशवाद से साहित्य का प्रयोजन ही नष्ट हो जाता है"

जैनेंद्र कुमार से सुरेश उनियाल की बातचीत

ज्ञानपीठ के संस्थापकों से जैनेंद्रजी के निकट के संबंध रहे हैं. ज्ञानपीठ की स्थापना के साथ ही उसके सुसंचालन के लिए साहू दंपत्ति के ध्यान में जो पहला नाम आया, वह भी जैनेंद्रजी ही का था. उन्होंने इस अनुरोध को स्वीकार तो नहीं किया, मगर उनका संपर्क-संबंध ज्ञानपीठ से बराबर बना रहा. यहां प्रस्तुत है पुरस्कार के संदर्भ में किया गया विशेष साक्षात्कार—

आप ज्ञानपीठ संस्थान से शुरू से ही जुड़े रहे हैं. ज्ञानपीठ पुरस्कार का विचार शुरू में किस रूप में आया और यह ज्ञानपीठ के उद्देश्यों के कितने निकट रहा?

आरंभ में विचार कुछ 'जैन ज्ञानपीठ' का था. उस समय भावना धार्मिक के निकट नैतिक और सांस्कृतिक थी. कल्पना में यह था कि पीठ का विकास एक आश्रम के रूप में हो सकता है. पीठ एक धर्मपीठ जैसी जगह हो सकती है, किंतु कोई योग्य व्यक्ति ऐसा न मिला जो इस कल्पना के लिए आधारभूत सिद्ध हो सकता. मैं स्वयं उसके योग्य न था. यद्यपि उन्होंने चाहा था कि मैं उस रूप में पीठ पर बैठ सकूं. मैंने ही उनसे आग्रहपूर्वक कहा कि ज्ञानपीठ को तो भारतीय ही होना चाहिए. इस प्रकार यह ज्ञानपीठ प्रकाशन इस रूप में प्रारंभ हुआ. पुरस्कार का विचार काफी बाद में आया.

मेरा मूल प्रश्न पुरस्कार के बारे में ही था. तब आपने पुरस्कार के किस स्वरूप की कल्पना की थी. और वह किस प्रकार व्यवहार में आया.

मैं उस समय सलाह में नहीं था. मुझे इतना याद है कि साहित्य-अकादमी की जब स्थापना हुई तब यह प्रश्न आया था कि एक केंद्रीय साहित्य पुरस्कार की भी व्यवस्था होनी चाहिए. साहित्य अकादमी की कार्यसमिति के समक्ष इस प्रकार का विचार रखने का मैंने ही साहस किया था, लेकिन व्यावहारिक नहीं समझा गया कि संविधान में स्वीकृत भाषाओं के लिए अलग-अलग पुरस्कारों की व्यवस्था हो. राष्ट्र के वातावरण में किसी एक केंद्रीय साहित्य पुरस्कार की आवश्यकता की पूर्ति साहित्य अकादमी से तो संभव न हुई, लेकिन ज्ञानपीठ ने यह कार्य उठाया और बड़ी सफलता के साथ संपन्न कर दिखाया.

आप साहू परिवार के इतना निकट रहे हैं यह कैसे संभव है कि ज्ञानपीठ पुरस्कार जैसे बड़े आयोजन में आपसे कोई चर्चा ही न की गयी हो?

चर्चाएं बहुत हुईं, पर मैं किसी भी बैठक में शामिल नहीं था. विशेष रूप से परामर्श लिया गया हो, यह भी मुझे याद नहीं है.

जब यह पुरस्कार शुरू हुआ तो आपको कैसा लगा?

मुझे अच्छा लगा. यह मेरी एक बहुत पुरानी कल्पना की पूर्ति थी. बहुत पहले जब भारतीय साहित्य परिषद बनी थी, तब मेरे और प्रेमचंद-जी के बीच ऐसा ही विचार हुआ था. बाद में

इसमें के. एम. मुंशी भी शामिल हुए थे. सोचा यह गया था कि विविध भारतीय भाषाओं के साहित्य व साहित्यकारों को निकट संपर्क में आना चाहिए. गांधीजी की अध्यक्षता में उसका एक अधिवेशन और कार्य समिति की बैठक भी हुई थी, पर हिंदी-उर्दू के विवाद और भारतीय साहित्य परिषद के मुख पत्र 'हंस' से जमानत मांगने की सरकारी नीति पर क्षुब्ध होकर गांधीजी ने उस प्रवृत्ति को ही स्थगित कर दिया. सरकार ने अकादमी बनायी, लेकिन सरकारी होने के कारण उसमे वह अपेक्षाएं पूरी कैसे हो सकती थीं, जिन्हें राष्ट्रीय कहा जा सके. मैं मानता हूं कि ज्ञानपीठ ने वह काम किया.

क्या आप समझते हैं कि ज्ञानपीठ पुरस्कार से पुरस्कृत पुस्तकें उन अपेक्षाओं पर पूरी उतर रही हैं, जो इस पुरस्कार के मूल में थीं?

पुरस्कृत पुस्तकों के संबंध में लोगों के अपने-अपने विचार हो सकते हैं, लेकिन जहां तक ज्ञानपीठ का संबंध है उसकी व्यवस्था और उसके मनोभाव इस संबंध में सर्वथा प्रामाणिक रहे हैं.

कुछ लोगों का आरोप है कि ज्ञानपीठ पुरस्कार राजनीति के दबाव में आकर कुछ कमजोर पुस्तकों पर भी दिये गये हैं, आपका इस विषय में क्या कहना है?

मैं मानता हूं कि मनुष्य अपूर्ण है. और उसकी बनायी संस्थाओं में भी अपूर्णता रह सकती है. किंतु पुरस्कारों के निर्णय में इस अर्थ में सावधानी बरती जाती है कि हर भाषा की अलग-अलग समितियां हैं, फिर समितियों द्वारा अनुशंसित पुस्तकों के परस्पर अनुवाद होते हैं, जिससे तुलनात्मक विचार किया जा सके. यानी चुनाव की पद्धति तो फूल प्रूफ बनायी गयी है, लेकिन दूसरी तरह के फैक्टर्स भी समाज में काम करते ही हैं, जिन्हें साहित्यिक नहीं कहा जा सकता. लेकिन ऐसी बात क्या नोबेल पुरस्कार के बारे में नहीं कही जा सकती? यह सामाजिक और सामयिक तत्व सक्रिय कहां नहीं हैं. हो सकता है कुछ किताबें कमजोर हों और पुरस्कार पा गयी हों, कुछ उल्लेखनीय पुस्तकें ध्यान से बच और बाहर ही रह रही हों, पर ऐसी कमियों की ओर विशेष चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है. विचारणीय और सराहनीय यह है कि यह पुरस्कार श्रेष्ठ कृतित्व को राष्ट्र को सुलभ और सुपरिचित कराने में समर्थ है. ज्ञानपीठ का यह कार्य पायनियरिंग कहा जायेगा.

क्या आपको नहीं लगता कि हिंदी के कुछ श्रेष्ठ लेखक अभी तक इस पुरस्कार से वंचित हैं, जबकि अन्य कुछ भाषाओं के अपेक्षाकृत कमजोर लेखकों को यह पुरस्कार मिल चुका है?

"अपनी पुस्तकों में मैं पुरस्करणीय एक ही पुस्तक को मानता हूं. और वह 'समय और हम' ही है. अब यह सृजनात्मक है अथवा नहीं है, यह सब नियमों का मामला है. इसमें मैं क्या कह सकता हूं."

यह परिस्थिति की विडंबना है कि इन भाषाओं में हिंदी भी एक भाषा है. हिंदी सारे भारत की आबादी की दो-तिहाई लोगों तक फैली है, यह ध्यान में नहीं लिया जाता. हिंदी के लेखकों की गणना दूसरी भाषाओं के लेखकों से कहीं ज्यादा है. साहित्यिक गुणवत्ता के निर्णय में जब यह आयाम अविचारणीय रहने दिया जाता है तो उसका परिणाम बहुत अशुभ होता है. हिंदी में अब क्षेत्रवाद चल निकला है. हर प्रदेश की सरकार अपने प्रदेश के लेखकों को ही प्रोत्साहित कर रही है. मध्य प्रदेश सरकार मध्य प्रदेश के लेखकों, बिहार सरकार बिहार के लेखकों, राजस्थान सरकार राजस्थान के लेखकों की ही पुस्तकें खरीद रही है, व पुरस्कृत-प्रोत्साहित कर रही है. मुझे लगता है राजनीतिक जीवन जिन तत्वों के कारण भी हो, सांस्कृतिक इस निमित्त से छिन्न-भिन्न और विघटित बना हुआ है. साहित्य में जब प्रदेशवाद आता है तो साहित्य का प्रयोजन ही नष्ट हो जाता है.

आपकी पुस्तक 'समय और हम' पर ज्ञानपीठ पुरस्कार के लिए विचार किया गया था, पर कहा जाता है कि अंतिम चरणों में यह कहकर उसे पुरस्कृत नहीं किया गया कि वह रचनात्मक साहित्य नहीं है. इस संदर्भ में आप क्या सोचते हैं?

जहां तक मैं समझता हूं 'समय और हम' उनके लिए विचारणीय नहीं हो सकती. कारण कदाचित उसे सृजनात्मक नहीं माना जा सकता. मुझे तो यह भी नहीं मालूम कि इस पुस्तक पर पुरस्कार के लिए कभी विचार भी किया गया हो. यह मैं आपसे आज पहली बार सुन रहा हूं. कालावधि की बाधा मेरे मामले में अवश्य आयी थी कि शुरू की मेरी पुस्तकें विचारणीय न हो सकीं.

अपनी किस पुस्तक को आप ज्ञानपीठ पुरस्कार के योग्य मानते हैं?

अपनी पुस्तकों में मैं पुरस्करणीय एक ही पुस्तक को मानता हूं. और वह 'समय और हम' ही है. अब यह सृजनात्मक है अथवा नहीं है यह सब नियमों का मामला है. इसमें मैं क्या कह सकता हूं.

आपके उपन्यासों की इतनी लंबी सूची है, क्या आप उनमें से किसी भी पुस्तक को इस पुरस्कार के योग्य नहीं मानते?

जिसको सृजनात्मक कहा जाता है, अपने वैसे साहित्य के प्रति मेरे मन में किसी तरह की कोई ममता या श्रद्धा का भाव नहीं है.

कुछ लेखक होते हैं जो पुरस्कार से सम्मानित होते हैं और कुछ लेखक ऐसे होते हैं, जिन्हें पुरस्कृत करके पुरस्कार सम्मानित होता है. आपकी गिनती इस दूसरी कोटि के लेखकों में होती है. फिर भी यह प्रश्न पूछने की धृष्टता मैं कर रहा कि अब तक यह पुरस्कार न मिल पाने पर आपको कैसा लगता है?

एक कसौटी है जिस पर मैं पूरा न उतरा. तो इस विषय में मैं क्या कह सकता हूं. □

सर्जनात्मक साहित्य किसे कहें?

पुरस्कार से संबंधित प्रवर परिषद की पहली बैठक के अवसर पर नियोजित गोष्ठी में परिषद के अध्यक्ष डॉ. संपूर्णानंद ने समीक्षकों के सामने प्रश्न रखा कि सर्जनात्मक साहित्य किसे कहेंगे. लंबी बहस हुई. निष्कर्ष इस रूप में निश्चित किया गया :

'सर्जनात्मक' लेखन के मुख्य तत्व क्या हैं, इसकी व्याख्या तो की जा सकती है, किंतु ऐसी बंधी-बंधायी दो-टूक परिभाषा नहीं की जा सकती, जिसको आधार बनाकर सरलता से यह कहा जा सके कि मात्र यही कृति इस कोटि के अंतर्गत आती है, जिस पर यह अमुक परिभाषा लागू हो, अन्य नहीं, किंतु समीक्षकों का मत था कि कृति विशेष को सामने रखकर यह विश्लेषण करना अधिक सरल है कि यह सर्जनात्मक लेखन है या नहीं. साधारण रूप से, तकनीकी साहित्य, वैज्ञानिक साहित्य, सूचना साहित्य, व्याख्यात्मक साहित्य, मात्र ज्ञानवर्धक साहित्य, दार्शनिक व्याख्या, मात्र अनुवाद, पुस्तकों और रचनाकारों की समीक्षाएं, तथ्यात्मक इतिहास आदि पुस्तकों को तथा ऐसी पुस्तकों को जिनमें न मौलिकता है, न साहित्यिक सौष्ठव, 'सर्जनात्मक साहित्य' की संज्ञा नहीं दी जा सकती. □

—प्र. : बोज.

तेलुगू कहानी

यह कैसा संबंध

विश्वनाथ सत्यनारायण

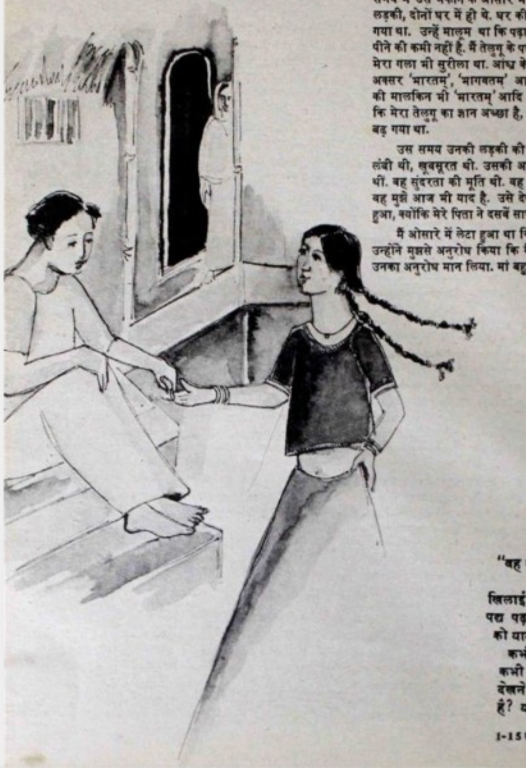

उस समय शायद मेरी उमर पंद्रह या सोलह साल की थी. एक बार हम अपने रिश्तेदार के गांव शादी में गये थे. हम वर पक्ष के थे. एक बड़े से मकान में ठहराये गये. मकान मालिक के घरवालों ने आधा हिस्सा अपने पास रखा और बाकी हमें सुपुर्द कर दिया था. शादी पांच दिन की थी. वह देहाती गांव था. दो दिन में ही उन लोगों से हमारी मित्रता हो गयी. वे भी हमारे साथ दुलहिन के घर में ही दोनों वक्त भोजन करते थे. वैसे वे थे भी दो ही. एक घर की मालकिन, दूसरी उसकी लड़की. मालिक का देहांत हो गया था. मालकिन विधवा थी. उसके लड़के किसी शहर में पढ़ते थे. शादी के तीसरे दिन, दोपहर के समय मैं उस मकान के ओसारे में लेटा हुआ था. मालकिन और उनकी लड़की, दोनों घर में ही थे. घर की मालकिन को मेरा पूरा परिचय मिल गया था. उन्हें मालूम था कि पढ़ाई में मैं तेज हूं और मेरे घर में खाने-पीने की कमी नहीं है. मैं तेलुगू के पद्य तब तक ढंग से पढ़ना सीख गया था. मेरा गला भी सुरीला था. आंध्र के परिवारों में विधवा होने पर स्त्रियां अक्सर 'भारतम्', 'भागवतम' आदि का पाठ करती रहती हैं. घर की मालकिन भी 'भारतम्' आदि से परिचित थी. यह मालूम होने पर कि मेरा तेलुगू का ज्ञान अच्छा है, उनका मेरे प्रति आदर भाव और भी बढ़ गया था.

उस समय उनकी लड़की की उम्र दस साल की थी. लड़की कद में लंबी थी, खूबसूरत थी. उसकी आंखें बड़ी-बड़ी थीं. भौंहें काली-काली थीं. वह सुंदरता की मूर्ति थी. वह जब हंसी तो मेरे मन पर क्या बीती, वह मुझे आज भी याद है. उसे देखकर मैं खुश भी हुआ और दुखी भी हुआ, क्योंकि मेरे पिता ने दसवें साल में ही मेरी शादी कर दी थी.

मैं ओसारे में लेटा हुआ था कि मां और बेटी दोनों मेरे पास आयीं. उन्होंने मुझसे अनुरोध किया कि मैं कुछ तेलुगू पद्य पढ़कर सुनाऊं. मैंने उनका अनुरोध मान लिया. मां बहुत खुश हुई.

उनकी लड़की जितनी रूपवती थी, उतनी ही नटखट भी थी. उसने मेरे साथ हंसी-मजाक करना भी शुरू किया. उससे बातें करते वक्त मेरा शरीर पुलकित हो जाता था, मेरा मन आनंद-विभोर. उस लड़की के शरीर की कांति-सोने की-सी थी. वह कांति मेरे शरीर में व्याप्त हुई तो मुझे ऐसा लगा कि मेरा रूप तेजोमय हो गया है.

शादी वालों के मकान में उस दिन 'सदस्यम्' की रस्म पूरी की जा रही थी. शादी में आये सभी लोग उस उत्सव में तल्लीन थे. घर में हम तीन ही बच गये थे. उस

"वह लड़की कौन है, तुम्हें मालूम है? जिसने तुम्हें लौंगी मिर्च खिलाई थी. वही है यह. . .तुम्हारा पद्य पढ़ना सुनकर सभी बातें लड़की को याद आ गयी हैं . . ." स्मृतियां कभी तो बहुत सुख देती हैं और कभी बहुत दुख. सबको मिलाकर देखने पर हमारे हाथ क्या लगता है? यही बता रही है यह कथा——

दिन उस लड़की ने जो शरारतें कीं, सब मुझे याद नहीं हैं, पर एक बात मैं आज भी नहीं भूला हूं.

मेरी पढ़ाई शहर में हुई थी. मैं बहुत-सी देहात की बातें न जानता था. मैं बहुत-से पेड़-पौधों को जानता था, पर कभी लौंगी मिर्च नहीं देखी थी. वह लड़की अपने पिछवाड़े से एक मिर्च ले आयी और बोली, "देखिए साहब, यह बहुत मीठी होती है, खाकर देखिए. आपके लिए ही लायी हूं." लड़की होशियार थी. उसने मिर्च की डंठल हटा दी थी. मैंने लड़की की बात पर विश्वास कर लिया और मिर्च को अपने मुंह में रख लिया. मेरी जीभ इतनी जल गयी कि बार-बार पानी पीने पर भी जलन कम न हुई. आंखों से पानी टपकने लगा. लड़की खूब हंसी—खूब हंसी. उसकी मां भी कुछ न बोली. माता-पुत्री के मन में मेरे प्रति कोई द्वेष तो था नहीं, हंसी-मजाक में यह हुआ था. मैंने उदारता दिखायी. ऐसा अपना व्यवहार बनाया कि जैसे मैं भी इसे एक दिल्लगी ही समझता हूं.

इसके बाद बातों के सिलसिले में लड़की की मां को मालूम हुआ कि मेरी शादी हो गयी है. वह बोलीं, "अरे, मैंने तो सोचा था कि अपनी लड़की की शादी इस लड़के से करूंगी."

शादी के पांच दिन बीत गये. हम सब अपने घर पहुंच गये, चार-पांच साल बाद मेरी पत्नी मेरे घर आयी. कुछ दिनों तक उस लड़की की याद मुझे बनी रही थी. फिर धीरे-धीरे मैं वह सब भूल गया था. उस लड़की को भी भूल गया था.

गरमी के दिन थे. लू चल रही थी. सबेरे से मैंने भोजन न किया था. सबेरे रेलगाड़ी छह बजे विजयवाड़ा से छूटी तो शाम को पांच बजे गुंटकल पहुंची. मैं अनंतपुर जा रहा था. उस दिन शुद्ध सप्तमी थी. हल्की-हल्की चांदनी चारों ओर छिटकी थी. रेलगाड़ी अनंतपुर की तरफ जा रही थी. हवा तेज थी. प्यास से गला सूख रहा था. चारों तरफ पत्थर ही पत्थर नजर आ रहे थे. रेल के डिब्बे में किसी के पास भी पानी न था. मैंने सोचा, अगले स्टेशन पर पानी मिल जायेगा. दो-तीन स्टेशन भी चले गये. पीने के पानी के पीपे हर स्टेशन पर थे, पर उनमें पानी न था. देखते-देखते नौ बज गये. प्यास के मारे मेरी जान निकल रही थी. हर स्टेशन पर उतरना और बिछी हुई चांदनी में इधर-उधर पानी खोजना मेरा काम हो गया था.

एक स्टेशन पर उतरकर मैं पानी की खोज में जा ही रहा था कि जनाने डिब्बे से एक स्त्री ने मुझे बुलाया और कहा, "बच्चे पानी के लिए तड़प रहे हैं, क्या आप थोड़ा-सा पानी ला सकेंगे?" उस डिब्बे में हमारे डिब्बे से अच्छी रोशनी थी. वह खिड़की से बाहर मुंह करके बोल रही थी. इस वजह से मेरा ध्यान उसके मुंह की तरफ न गया.

मैंने जवाब दिया, "हां-हां, मैं पानी के लिए ही जा रहा हूं, मिलेगा तो जरूर लाकर दूंगा." उसने लोटा मेरे हाथ में दे दिया. उस प्यास की स्थिति में उस स्त्री के मन में न स्त्री-पुरुष का विभेद था, न पराये पुरुष की भावना. उसका हाथ मेरे हाथ से छू गया. सच पूछा जाये तो और एक घंटे पानी न मिलता तो हम-सब प्यास से मर जाते. उस स्थिति में उसके हाथ के स्पर्श से खुश होना, अधर्म का लक्षण था या जानवर का.

उस स्टेशन पर पानी मिल गया था. मैंने पेट भर पानी पिया. उसका लोटा भर लिया. मेरी प्यास बुझी, इसकी अपेक्षा उस स्त्री को मैं पानी दे सका, इससे मुझे अधिक प्रसन्नता हुई. . .क्या मैंने उस स्त्री पर उपकार किया था? इस उपकार के बदले क्या वह मुझपर अनुरक्त हो जायेगी?. . .पानी का लोटा उसके हाथ में दे दिया. बिना मेरे हाथ को छुए अब की बार उसने लोटा लिया. बच्चों को पिलाया, थोड़ा स्वयं भी पी लिया. मुझे वहां से अपने डिब्बे में जाना था, लेकिन नहीं गया, वहीं खड़ा रहा. पूछा, "पानी पूरा हो गया या और लाऊं?"

मैंने पानी लाकर दिया था, कृतज्ञता की भावना उसके मुंह पर थी, पर धन्यवाद कहना उसे नहीं मालूम था, क्योंकि वह अंग्रेजी नहीं जानती थी. ये शिष्टाचार के शब्द उसे मालूम न थे.

बच्चों को पानी पिलाते वक्त उस स्त्री के मुख की तरफ मैंने ठीक तरह से देखा. उसकी सुंदरता मुझे आकृष्ट कर रही थी. सहसा मुझे याद आया कि उसे मैंने कहीं देखा है. शायद उसने भी मुझे देखा हो. कुछ लोगों को देखने पर, भले ही उनसे काफी परिचय न हो, ऐसा लगता है कि पहले भी कहीं देखा है. ऐसा भ्रम सहज ही हो जाता है. आप कहां जा रही हैं? आपका कौन-सा गांव है? मैं पूछना चाहता था, लेकिन मैंने कुछ न पूछा. सीधे डिब्बे में चला गया, पर वह सुंदर मुख मेरे मन में अंकित-सा हो गया था.

इसके दो साल बाद उसी शहर में मुझे नौकरी मिली. किराये का मकान ढूंढ़ा. एक घर में एक हिस्सा किराये पर मिला. उसी दिन शाम को मेरे परिवार के लोग भी आ गये. बाजू के हिस्से में चार दिन तक लगातार ताला लगा हुआ था. घर के मालिक कहीं अपने दूसरे घर में रहते थे. मैंने प्रश्न किया, "उस हिस्से में कौन रहते हैं?" जवाब मिला कि कलेक्टर के दफ्तर का एक कर्मचारी रहता है. उसकी पत्नी प्रसव के लिए मायके गयी है. वह आजकल अकेले रहता है. चार दिन हुए, छुट्टी लेकर गया है.

पांचवें दिन वह आया. सबेरे नौ बजे वह दफ्तर जाता था, रात को दस बजे घर लौटता था. कभी उससे मिलकर बातें करने का मुझे मौका ही न मिला. चार-पांच महीने हम दोनों उसी मकान में रहे, पर हम एक-दूसरे से बातें न कर सके. इसके अलावा वह कभी कोई अफसर भी रह चुका था, सो, बहुत शान दिखाता था.

एक दिन शाम को उसके घर के सामने एक घोड़ागाड़ी आकर रुकी. उसमें से एक स्त्री उतरी, उसके साथ तीन बच्चे थे. मैं बाहर बैठा कुछ लिख रहा था. वह स्त्री बिना मुंह ऊपर उठाये घर के अंदर चली गयी. कम-से-कम मुंह उठाकर तो वह देख सकती थी, लेकिन काहे को? उसने सोचा होगा, अफसर की पत्नी है, ऐसा करना उसकी शान के खिलाफ है.

पर मैं उस स्त्री की तरफ देखता रह गया. उसका पति भी उसके साथ था. पति को मालूम था कि मैं उसकी पत्नी की तरफ देख रहा हूं, लेकिन वह मेरा कुछ भी न कर सकता था, भले ही मन में निर्णय कर ले कि मैं शरीफ आदमी नहीं हूं, पर उस स्त्री की नजर में तिरस्कार की भावना साफ दीख रही थी. . .मैं ऐसा क्यों दिख रहा हूं ? किसी को देखना बुरा है क्या? यह देखना मानव के लिए कितना सहज है. कोई किसी मतलब से किसी को देख रहा है या यों ही, यह दूसरे को कैसे मालूम हो सकता है. रेल में जब देखा था, उस स्त्री का शरीर हृष्ट-पुष्ट था, पर इस वक्त वह बहुत दुबली-पतली हो गयी थी.

दस दिन हो गये थे. मेरी मां बोली, "वे घमंडी हैं, बातें तक नहीं करते."

मैंने कहा, "जाने दो."

उस शहर के कुएं पाताल-गंगा के बराबर थे. एक दिन उनकी नौकरानी न आयी. स्नान करने और पीने के लिए उस स्त्री को पानी खींचना पड़ा. बेचारी बहुत दुबली-पतली हो गयी थी. स्वास्थ्य अच्छा न था. साढ़े नौ बजे भोजन तैयार न करे तो पति मैजिस्ट्रेट की सारी

■ विश्वनाथ सत्यनारायण : आंध्र प्रदेश के नंदपुर नामक गांव में 6 अक्तूबर, 1895 में जन्मे और कवि-सम्राट की उपाधि से विभूषित इस रचनाकार के ग्रंथों की संख्या सौ से अधिक है, जिसमें साठ से अधिक उपन्यास हैं, किंतु 1970 का ज्ञानपीठ पुरस्कार इन्हें इनके महाकाव्य 'रामायण कल्पवृक्षम्' पर प्रदान किया गया था.

पद की चौथी पंक्ति बनाम प्रसव पीड़ा

■ विश्वनाथ सत्यनारायण

1940 में एक महानुभाव से मेरी भेंट हुई जो मेरी रामायण छपाने को तैयार थे. वह मुस्याला के जमींदार के पुत्र हैं, उनकी आंध्र प्रदेश के कृष्णा जिले में छोटी-सी जमींदारी है. मैंने बालकांड समाप्त किया.

मेरे बिना जाने, और मेरे अनबूझे, एक ऐसी अनुभूति घटित हुई, जिसका उत्तर मेरे पास नहीं है. और, वह यह कि मैं अपनी इच्छानुसार जब चाहता, रामायण नहीं लिख पाता था.

किसी भी पुस्तक का लेखन मुझे एक सप्ताह या दस दिन से अधिक व्यस्त नहीं रख सकता था. स्वाभाविक ही उसके बाद मैं अपनी अभ्यस्त प्रच्छन्नता में लौट जाता था, किंतु रामायण के साथ ऐसा न कर सका. राम इतने हठी थे कि एक क्षण को भी टस से मस नहीं होते थे.

1961 : एक प्रातः वायु में स्पष्ट शब्द मुखरित हुए—"रामायण लिखो, पुनः लेखनी उठाओ!" ये शब्द मैंने सुने.

अदृश्य दिव्य आदेश था. युद्धकांड अलिखित था. युद्धकांड के 2000 पद चार-पांच महीनों में लिखे गये. कथानक में भरत-अग्नि-चिता में कूदने को तैयार थे. ऐसा होगा, यह श्रीरामचंद्र से प्रतिज्ञा हुई थी, यदि वह नियत तिथि तक वापस नहीं आये. श्रीराम को लौटते समय मार्ग में विलंब हो गया था, इसलिए उन्होंने आंजनेय को आगे भेज दिया. भरत भावाभिभूत मूर्छा-वस्था में थे. अगले क्षण वे अग्नि-चिता में कूद जाते. केवल आंजनेय ही को पता था कि इस दुर्घटना को कैसे रोका जाये.

कुछ दूर ही से आंजनेय ने श्रीरामचंद्र के अयोध्या लौटने का गायन प्रारंभ कर दिया. हनुमान विलक्षण गायक, विद्वान और महान कवि थे.

भरत के आध्यात्मिक और बौद्धिक संतुलन को उस गायक ने बेधा. भरत के मुख से एक ध्वनि प्रस्फुटित हुई. भरत की उस मुख-ध्वनि की मैंने मत्तेभ छंद में रचना की. तीन पंक्तियां लिखी गयीं, किंतु चौथी अवतरित न हुई. वह प्रसव-पीड़ा थी, लगभग मेरे हृदय के टूटने की कहानी. आंसुओं की धार झर-झर बह रही थी. चौथी पंक्ति नहीं आयी.

विवश होकर मुझे प्रयत्न छोड़ना पड़ा. मृत्यु नहीं आयी तो इसीलिए कि वह घटित नहीं हुई.

देर बाद मुझे ऐसी प्रतीति हुई कि चौथी पंक्ति पहले से ही लिखी हुई है. मैंने पूरे पद को पढ़ा और पूरा पद लिख गया. यह वर्णनातीत अनुभव मुझ पर छा गया. मैं जानता हूं कि वेदों में इसका उत्तर है.

जितने समय तक मैं उनकी कथा लिखता रहा, श्रीराम ने जो मेरी सहायता की, वह प्रभूत थी. महान कार्य समाप्त हुआ. मैंने सोचा मैं कृतकृत्य हुआ. किंतु भगवान की महिमा अनिरूपित है. उनके हिसाब-किताब का ढंग निराला है. □

प्रस्तुति : बी. आर. नारायण

कड़ाई पत्नी पर दिखाता. उस दिन शाम को पांच बजे मैं घर लौटा तो देखा कि एक बाल्टी पानी कुएं से खींचते-खींचते उसकी जान निकल रही है. नीचे दो बर्तन रखे हुए थे. कम-से-कम चार बाल्टी पानी न खींचे तो बर्तन न भरें. मैंने पांव धोने के लिए बाल्टी मांगी. बाल्टी देकर वह घर में चली गयी. मैं पांव धोकर, दोनों बर्तन पानी से भरकर घर के अंदर चला गया.

उसके तीन दिन के बाद एक दिन शाम को मैं घर जा रहा था. उसकी आंखें मुझ पर गड़ गयीं. मालूम हुआ कि उन आंखों ने मुझे पहचान लिया है.

उसके बाद मेरे परिवार के लोगों से उसने बोलना-चालना शुरू किया था. बर्तन भरने से वह प्रसन्न हुई या रेल के डिब्बे में पानी लाकर देने से प्रसन्न हुई थी, मालूम नहीं.

मैं राग के साथ पद्य पढ़ता था. दस दिन में एक बार रात को, भोजन के बाद मैं डटकर दस-पंद्रह पद्य ऊंची आवाज में पढ़ता था. मेरी मां ने बताया कि दूसरे दिन उस स्त्री ने मेरी प्रशंसा की और कहा था कि आपका लड़का अच्छा गाता है.

उसके बाद सात दिन बीत गये. एक दिन मेरी मां ने पूछा, "यह लड़की कौन है, तुम्हें मालूम है? जिसने तुम्हें लौंगी मिर्च खिलायी थी, वही है यह. कल उससे मेरी बातें हुईं. उसका भाई हमारे ही गांव में नौकरी करता है. हमारे घर के नजदीक ही रामाराव के घर में उसका भाई किराये पर रहता है. तुम्हारा पद्य पढ़ना सुनकर सभी बातें लड़की को याद आ गयी हैं. उसका कहना है कि एक बार बचपन में तुमने ऐसे ही पद्य पढ़े थे.

कुछ दिनों बाद उसका पति तहसीलदार बन गया और घर खाली करके वे लोग चले गये. उस दिन मैं गांव में न था.

इसके तीन साल बाद नौकरी छोड़कर मैं अपने घर में ही रहने लगा. उस स्त्री का भाई अब भी रामाराव के घर में ही रहता था. उसके भाई से एक दिन मेरी बातें हुईं. मालूम हुआ कि वह स्त्री फिर गर्भवती है. मां के अनुरोध पर पांचवें महीने नहीं सातवें महीने भी नहीं, नौवें महीने उसे मायके ले आये हैं.

तीसरे दिन रात को उस स्त्री को प्रसव वेदना हुई. डॉक्टर आया. जैसे-तैसे रात बीत गयी.

दो दिन के बाद उस स्त्री की हालत बहुत बिगड़ गयी. हमारे परिवार के लोग उनके घर गये. मैं भी गया. उसकी मृत्यु का समय समीप आ गया था. खाट से नीचे उतारनेवाला कोई न था. पति को तार दिया गया था, पर तब तक वह नहीं आया था. मैं और उसका भाई, दोनों ने मिलकर उसे चारपाई से नीचे उतारा.

दूसरे दिन लाश ले जाने के समय भी उसका पति नहीं आया. लाश श्मशान तक ले जाने वालों में मैं भी एक था. रात को नक्षत्रों के दर्शन करने के बाद मैंने भोजन किया था.

उस दिन रात को एक स्वप्न आया था—वह दस साल की लड़की थी. मैं सोलह साल का लड़का था. उस लड़की के घर में मैंने पद्य पढ़े थे. वह लड़की लौंगी मिर्च ले आयी. बोली, "खाओ," मैंने खा ली. जीभ जलने लगी. एकाएक नींद से उठ बैठा, एक लाल कीड़ा जीभ पर बैठा हुआ था. जीभ जल रही थी. जीभ पर ही नहीं, होंठ पर भी छोटा-सा घाव था. उसके ठीक होने में दस-बारह दिन लगे. भोजन भी मैं ठीक तरह से न कर सका. □

ज्ञानपीठ साहित्य पुरस्कार समर्पण समारोह का एक दृश्य : पृष्ठभूमि में ज्ञानपीठ के संस्थापक दंपत्ति साहू श्री शांतिप्रसाद जैन एवं श्रीमती रमा जैन के छायाचित्र; (बायें से दाएं) मंच पर हैं पुरस्कार जयी कृतिकार वीरेंद्रकुमार भट्टाचार्य, ज्ञानपीठ की ट्रस्टी श्रीमती इंदु जैन, श्रीमती इंदिरा गांधी और ज्ञानपीठ के अध्यक्ष साहू श्री शांतिप्रसाद जैन.

भारतीय ज्ञानपीठ : एक परिचय

भारतीय चिंतन, संस्कृति और साहित्य के प्रति समर्पित

भारतीय ज्ञानपीठ एक ट्रस्ट है, पर अपने में 'विशिष्ट'. इसके प्रेरणास्रोत भिन्न थे, और भिन्न है इसका उद्देश्य-साधना के प्रति दृष्टिभाव. इसका उपक्रम देश के उन अनेक विद्वानों की ओर से हुआ था, जो विभिन्न भाषा-साहित्यों से संबद्ध थे और, मात्र धारणा के रूप में नहीं, अंतर्निष्ठा के आधार पर अनुभव करते आये थे कि चिंतन और सृजन न तो अभिन्न इकाई जैसे होते हैं, न ही चिरस्थायी भाव से सर्वथा विभिन्न.

इन मनीषियों को अवगत था कि प्राचीन भारतीय ज्ञान का एक विपुल भंडार विस्तृत और आरक्षित अवस्था में पड़ा है. उनका विश्वास था कि उसे प्रकाश में आना आवश्यक है. और ऐसा केवल इस दृष्टि से नहीं कि यह अपने में बहुमूल्य था, बल्कि इस दृष्टि से भी कि उससे प्रत्यक्ष हो सकता कि देश का सांस्कृतिक दाय कितना संपन्न और बहुमुखी है और फिर भी कितना एकजीव, अंतस से एकप्राण.

अव्यक्त चिंतना-भावना इन मनीषियों का स्वर और समवेत वाणी पा सकी, जब इस भौगोलिक विराट् इकाई के दक्षिण और पश्चिम उत्तर और पूर्व क्षेत्रों से आकर उनमें से कितने ही अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन के अवसर पर वाराणसी में इकट्ठा हुए. उस समय वहां तीव्रता से इस बात की आवश्यकता उनमें जगी कि कोई एक ऐसा संस्थान हो जो भारतीय चिंतना, संस्कृति और साहित्य के प्रति संपूर्णता के साथ समर्पित हो. बड़ा प्रश्न था सामने यह कि जो राजे-महाराजे परंपरा से ऐसे कार्य-दायित्वों को संरक्षण देते आये थे, वे अब थे नहीं. तब प्रस्ताव रखा जाये तो किसके आगे, जो इस विचार का वास्तविक महत्त्वांकन कर सके और अपनी क्षमताएं इसके प्रति समर्पित कर सके. यों देश में समर्थ और संपत्तिशाली व्यक्तियों की कमी नहीं थी, किंतु अभीष्ट योजना के लिए दु:साहस! यह तो यथार्थ में वही कर सकता था, जो साहित्य और संस्कृति के प्रति स्वयं समर्पित हो.

संस्थापना

और जैसे सफलता स्वयं ही संकेत कर जाये, उस विद्वत मंडल ने देश के एक प्रमुख उद्योगपति साहू शांतिप्रसाद जैन के सम्मुख प्रस्ताव रखा. और जैसे हाथोंहाथ 18 फरवरी, 1944 को वाराणसी में भारतीय ज्ञानपीठ की संस्थापना हो गयी. साहू शांतिप्रसाद जैन प्रतिष्ठापक थे और उनकी प्रबुद्धमना धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन उसकी अध्यक्षा.

तभी से भारतीय ज्ञानपीठ अपने इस राष्ट्रीय कार्यदायित्व को संभाले आयी है कि भारतीय विचार-दर्शन की उपेक्षित निधियों का अनुसंधान-प्रकाशन करे और आधुनिक भारतीय भाषाओं में ऐसे मौलिक साहित्य-सृजन को प्रोत्साहन दे, जो स्थायी मूल्यों को लेकर चले और दृष्टि-पथ को विस्तृत कर सके. धीरे-धीरे कई नयी कार्य-योजनाएं श्री शांतिप्रसादजी और श्रीमती रमाजी के निर्देशन के अनुसार इसमें और जुड़ गयीं, जो और भी दूरव्यापी थीं. महत्त्व की बात यह है जिस ओर भी ज्ञानपीठ प्रवृत्त हुई, उसने यह नहीं भुलाया कि वह एक सांस्कृतिक आयोजना है : सनातन के उत्तराधिकार और उदीयमान की अभिप्साओं के योग्य.

ज्ञानपीठ प्रकाशन—मालाएं

अपने नियत कार्य-युग्म को पूरा करने की दृष्टि से ज्ञानपीठ ने दो ग्रंथमालाएं प्रवर्तित कीं : मूर्त्तिदेवी ग्रंथमाला और लोकोदय ग्रंथमाला. कुछ दिनों बाद दो और आनुषंगिक ग्रंथमालाएं मूर्त्तिदेवी ग्रंथमाला के साथ संयुक्त हो आयीं : माणिकचंद्र ग्रंथमाला और कन्नड़ ग्रंथमाला. लोकोदय ग्रंथमाला के साथ भी सहयोगी अंग के रूप में राष्ट्रभारती ग्रंथमाला सक्रिय हो उठी.

मूर्त्तिदेवी ग्रंथमाला का क्षेत्र था : संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हडेगन्नड़ और तमिल भाषाओं में उपलब्ध ज्ञान की अप्राप्य सामग्री का अनुसंधान और सुसंपादित रूप में प्रकाशन. लोकोदय ग्रंथमाला का कार्य समकालीन सर्जनात्मक साहित्य को प्रकाश में लाना था. इसके अंतर्गत प्रतिष्ठित लेखक वर्ग की ही रचनाएं नहीं, नवोदित प्रतिभाओं का कृतित्व भी सम्मिलित रहा है. सच तो यह है कि इस ग्रंथमाला के माध्यम से विकासक्षम प्रतिभाओं तक को उभरकर उठने के लिए प्रोत्साहित किया गया.

मूर्त्तिदेवी एवं आनुषंगिक ग्रंथमालाएं

सर्वप्रथम उत्तरदायित्व जो, साहू शांतिप्रसाद जैन की धर्मप्राण माता के नाम पर प्रवर्तित, मूर्त्तिदेवी ग्रंथमाला के अंतर्गत उठाया गया, वह सचमुच असाधारण था. सुदूर दक्षिण में मूडबिद्री स्थित एक मंदिर में शताब्दियों से ताड़पत्रों पर हस्तलिखित एक ग्रंथ रखा चला आता था. दूर से विद्वज्जन एवं भक्त यात्री उसके दर्शन करने आते. बिना जाने कि वह किस लिपि में है और क्या उसका विषय आदि है. ज्ञानपीठ के अनथक प्रयत्नों पर प्रकट हुआ कि हडगन्नड लिपि में लिखित कर्मसिद्धांत विषयक एक महान ग्रंथ है यह. लगभग 90,000 रुपये (उस काल में) व्यय करके ज्ञानपीठ ने उसका लिप्यंतरण एवं हिंदी अनुवाद कराया और 'महाबंध' शीर्षक से बड़े-बड़े सात खंडों में प्रकाशित कराया.

तब से लेकर 125 ग्रंथ इस ग्रंथमाला में आ चुके हैं. इनमें एक भी नहीं, जिससे प्रत्यक्ष न होता हो कि उस सुदूर अतीत में भारतीय ज्ञान और चिंतन कितना व्यापक और विविधता पूर्ण प्रकृति का था, और कितनी वास्तविकतापूर्वक जनमानस की प्रवृत्तियों के साथ जुड़ा हुआ भी. इन महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों की एक विशेषता यह भी थी कि न केवल आधुनिक मानदंडों के अनुसार इनका संपादन किया गया था, बल्कि तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा के लिए समानांतर ग्रंथों को भी सामने लाया गया था.

लक्ष्य और प्रयोजन की दृष्टि से माणिकचंद्र एवं कन्नड़ ग्रंथमालाएं भी मूर्त्तिदेवी ग्रंथमाला की ही अनुवर्तिनी थीं. माणिकचंद्र ग्रंथमाला का तो प्रवर्त्तन, सच में एक अन्य संस्था के तत्त्वावधान में हुआ था और ज्ञानपीठ ने उसे विनष्ट होने से बचाने के लिए संभाल लिया था. अब तक 55 ग्रंथ इसके अंतर्गत प्रकाशित हो चुके हैं. कन्नड़ ग्रंथमाला की परिकल्पना कुछ ही वर्ष पूर्व की है, आठ महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथ आधुनिक कन्नड़ में सुसंपादित होकर प्रकाशित हो चुके हैं, कई और कार्यक्रम में समाविष्ट हैं.

लोकोदय ग्रंथमाला

ज्ञानपीठ के उद्देश्य-युग्म के दूसरे अंग, लोकोदय ग्रंथमाला का अभीष्ट रहा है हिंदी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के सर्जनात्मक लेखन को प्रोत्साहित करना, उसकी विषय-वस्तु एवं प्रस्तुतीकरण के स्तर को ऊंचा उठाना और नयी प्रवृत्तियों एवं नयी प्रतिभाओं को अवसर देकर युगीन भारतीय साहित्य की विविधता तथा मूल्यवत्ता को बढ़ाना.

राष्ट्रभारती ग्रंथमाला

राष्ट्रभारती ग्रंथमाला, लोकोदय ग्रंथमाला की अनुषंग जैसी दिखते भी, वास्तव में भावदूत थी भारतीय ज्ञानपीठ की उस आधारभूत धारणा की कि भारतीय चिंतना और साहित्य एवं संस्कृति मूलत: एक ही इकाई है. राष्ट्रभारती ग्रंथमाला के माध्यम से सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं के प्रमुख साहित्यकारों की कृतियों के —कथासाहित्य के ही नहीं, काव्यकृति के भी—हिंदी अनुवाद प्रकाशित किये गये हैं और इस प्रकार साक्षात्कार कराया है वास्तविक रूप से इस सत्य से कि 'भावप्रकाश का साधन' भाषाएं हमारी कितनी भी हों, विषयवस्तु एक-जैसी है और प्राणात्मा तो सबका एक है ही.

लोकोदय और राष्ट्रभारती, दोनों ग्रंथमालाओं में सब मिलकर 432 पुस्तकें अब तक आयी हैं. कितनी ही इनमें ऐसी हैं, जो किसी भी भाषा के साहित्य का गौरव-मान बढ़ायेंगी. अवश्य, यह सब संभव हो सका मुख्यत: इसलिए ही कि ज्ञानपीठ का दृष्टि-लक्ष्य व्यावसायिक उपार्जन का नहीं रहा.

ज्ञानोदय मासिक

ज्ञानपीठ को गर्व है कि आज के अनेक प्रतिष्ठा प्राप्त युवा पीढ़ी के साहित्यकार और पत्रकार ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित उनकी पुस्तकों अथवा 'ज्ञानोदय' मासिक में धारावाहिक प्रकाशित उनकी रचनाओं से प्रकाश में आये. इस मासिकपत्र का भी अपने में एक उल्लेखनीय योगदान रहा है : न केवल हिंदी पत्रकारिता के विकास में, बल्कि स्वयं हिंदी साहित्य में आधुनिक चिंतन-प्रवृत्तियों एवं लेखन-शैलियों के प्रोत्साहन में भी.

ज्ञानपीठ का एक और पुरस्कार...

मूर्त्तिदेवी साहित्य पुरस्कार

यह पुरस्कार ग्यारह हजार रुपये राशि का है जो प्रतिवर्ष ऐसे लेखक को दिया जाता है जिसकी कृति आधारभूत जीवन-मूल्यों को अथवा उनके पक्ष विशेष को साहित्यिक संरचना की दृष्टि से, श्रेष्ठ रूप से प्रतिपादित करती हो. इस संदर्भ में जीवन मूल्यों से तात्पर्य है सत्य, अहिंसा, अनेकांत, अपरिग्रह, समता, शांति, संयम, त्याग तथा जन-कल्याण के सिद्धांतों और भावनाओं का उन्नयन.

साहित्यिक संरचना से अभिप्राय है कृति के सृजन में विषय की प्रभावकारी परिकल्पना और शैली-शिल्प का आकर्षण, पौराणिक आख्यान, कथा-कहानी, उपन्यास, नाटक, काव्य, ललित निबंध या प्रबंध, जीवन वृत्त, संस्मरण, आत्म-कथा, ऐतिहासिक एवं आध्यात्मिक प्रसंग, चिंतन आदि विधाएं इस प्रकार की साहित्यिक प्रभावकारी संरचना के लिए मान्य हैं.

पुरस्कार वर्ष से एक वर्ष पूर्व तक प्रकाशित किसी भी जीवित भारतीय लेखक की किसी भी भारतीय भाषा या अंग्रेजी में लिखी गयी पुस्तक इस पुरस्कार के लिए विचारार्थ मान्य है. बशर्ते लेखक भारत का नागरिक हो.

प्रतियोगिता के लिए कृतियां कोई भी लेखक, पाठक, प्रकाशक या संस्था भेज सकती है अथवा विवरण सहित प्रस्तावित कर सकती है. निर्णायक मंडल स्वयं भी पुरस्कार हेतु उपयुक्त कृतियों पर विचार कर सकता है.

प्रस्तावित कृतियों के चयन एवं मूल्यांकन का प्रबंध पुरस्कार निर्णायक मंडल द्वारा नियोजित होता है.

निर्णायक मंडल का गठन ज्ञानपीठ न्यासी मंडल करता है.

निर्णीत कृति के लेखक के सम्मानार्थ एक विशेष आयोजन होता है. □

प्रस्तुति : वीरेंद्र जैन

राष्ट्रभारती ग्रंथमाला के संदर्भ में 'ज्ञानपीठ पत्रिका' का भी उल्लेख कर देना समीचीन होगा. 'ज्ञानोदय' से यह भिन्न थी और अपेक्षया लघुकाय होकर भी इसने प्रतिमास एक ऐसा व्यवस्थित चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न रखा, जिससे अपेक्षी पाठक जानकारी पा सकें कि देश की किस भाषा में किस कवि-लेखक द्वारा क्या विशेष सृजन हो रहा है. तात्कालिक परिस्थितियों को देखते अपने प्रकार का यह पहला प्रयोग था : हिंदी क्षेत्र में ही नहीं, भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में भी.

कला एवं पुरातत्व के क्षेत्र में

इस क्षेत्र में ज्ञानपीठ ने प्रवेश अनसोचे या किसी मनोवेग के अधीन नहीं किया, अपने मूलभूत उद्देश्यों के विकास-प्रसार की भावना के अंतर्गत ही किया. कला और पुरातत्व जगत की कितनी-कितनी बहुमूल्य सामग्री थी जो परायी जैसी बिसरायी पड़ी थी. ज्ञानपीठ के तात्कालिक प्रयत्न तीन रूपों में प्रस्फुटित हुए. सबसे अधिक उल्लेखनीय है बड़े-बड़े आकार के तीन खंडों में प्रकाशित 'जैन आर्ट एंड आर्किटेक्चर' और उसी का हिंदी रूप 'जैन कला और स्थापत्य'. कला एवं पुरातत्वविज्ञों ने 625 इकरंगी और 50 बहुरंगी कलाकृतियों के चित्रों सहित 1400 पृष्ठों की इस सामग्री को एक उपलब्धि माना है. यही मूल योजना बनाये रखते हुए कई क्षेत्रीय ग्रंथों का प्रकाशन भी कार्यक्रम के अंतर्गत है.

इसी विषय-जगत संबंधी ज्ञानपीठ का दूसरा कार्यायोजन है पुराचित्रागार. भारतीय कला के सर्वांगीण सर्वेक्षण एवं अध्ययन के लिए यह प्रकल्प प्रारंभ किया गया था. विशेषकर उन अंगों के लिए जो प्रायः उपेक्षित रहे. एकत्रित लगभग 14,000 छायाचित्रों के संग्रह में से कुछ चुने-चुने चित्रों की एक प्रदर्शनी भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर आयोजित की गयी थी.

उक्त योजना-आयोजना का तीसरा अंग है : रमा जैन कला वीथी. यह वीथी परिकल्पना और कार्यान्वयन, दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है. इस कलावीथी में मूर्तियों, स्तंभों, धर्मचक्र आदि प्राचीन कलाकृतियों की तदाकार प्रतिकृतियां बनायी जा रही हैं, और एक सर्वथा नयी सामग्री से जो टिकाऊ है, आग-पानी के प्रभावों से मुक्त और बिल्कुल हल्की.

उत्सवीय एवं आनुषांगिक प्रकाशन

भारतीय संस्कृति के प्रमुख आधार-ग्रंथों से अंगरेजी-भाषी पाठकों को अवगत कराने के उद्देश्य से ज्ञानपीठ ने एक 'अंगरेजी ग्रंथमाला' भी आयोजित की है. लक्ष्य यह है कि भारतीय धर्म-दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति के मूल सिद्धांतों एवं मान्यताओं का प्रामाणिक परिचय उपलब्ध कराया जा सके. 10 महत्वपूर्ण प्रकाशन इस ग्रंथमाला में आ चुके हैं.

भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर आयोजित देशव्यापी कार्यक्रमों के अंतर्गत ज्ञानपीठ ने उनके चरित-काव्यों के प्रकाशन की योजना हाथों में ली.

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और कन्नड़ में उपलब्ध महावीर भगवान के जीवन एवं दर्शन से संबंधित 25 ग्रंथों का प्रकाशन किया. इनके अतिरिक्त हिंदी में कई मौलिक कृतियां भी विभिन्न विधाओं में प्रकाशित कीं.

अपनी सांस्कृतिक उद्देश्य साधना से ज्ञानपीठ ने श्रवणबेलगोल महोत्सव पर कई विशेष कृतियां प्रकाशित कीं. श्रवणबेलगोल में पर्वतशृंग पर भगवान बाहुबली की विश्व की सबसे ऊंची प्रतिमा प्रतिष्ठित है. प्रतिष्ठापन के हजार वर्ष पूरे होने पर जो महामस्तकाभिषेक संपन्न हुआ, वह एक ऐतिहासिक अवसर था. ज्ञानपीठ ने अपने संबंधित प्रकाशनों द्वारा उस पुण्यभूमि और उस विराट् प्रतिमा-स्थापना की समूची पृष्ठभूमि एवं वंदना-परंपरा को ही आस्वादित नहीं किया, त्याग-तपस्या और निर्वाण के सत्य-स्वरूप से भी साक्षात्कार कराया.

एक और नया आयाम : संगोष्ठियां

अपनी विभिन्न कार्य-प्रवृत्तियों के अनुक्रम में ज्ञानपीठ ने एक और दिशा में भी अग्रसर होना चुना. प्रेरणा और प्रोत्साहन था अध्यक्ष श्री साहू श्रेयांसप्रसाद जैन का और कार्य-दिशा थी संगोठियों की. संगोष्ठियां यों आये दिन होती आयी हैं : साहित्यिक भी और सांस्कृतिक भी. ज्ञानपीठ का प्रयास, दोनों ही क्षेत्रों में, नयी भूमि और नयी दृष्टि लेकर हुआ. □

(पुरस्कार समारोह के अवसर पर प्रकाशित स्मारिका से)

उदारता और सुसंस्कृति की प्रतीक

▣ बनारसीदास चतुर्वेदी

स्वर्गीय रमाजी के दर्शनों का सौभाग्य मुझे केवल दो-चार बार ही प्राप्त हुआ था. एक बार कलकत्ता और दूसरी बार दिल्ली में, यद्यपि उनसे पत्र-व्यवहार पहले से था. जब ज्ञानपीठ ने प्रकाशन कार्य प्रारंभ ही किया था, तभी रमा जैन के कई पत्र मिले.

पहले मेरा यह अनुमान था कि रमाजी ज्ञानपीठ की नाममात्र की संचालिका हैं, और काम सब अधीनस्थ क्लर्क ही करते होंगे, पर आगे चलकर श्री कन्हैया लाल मिश्र 'प्रभाकर' की कृपा से यह भ्रम दूर हो गया.

कलकत्ता में अखिल भारतीय दिगंबर जैन सभा का जो वार्षिक उत्सव हुआ, उसके लिए श्री साहूजी से मुझे भी निमंत्रण मिला था. हिंदी पत्रकारों की स्थिति की जांच के लिये मुझे उधर जाना ही था, इसलिए मैंने वह न्यौता स्वीकार कर लिया. प्रयाग तथा काशी के पत्रकार बंधुओं से मिलता हुआ मैं कलकत्ता पहुंचा. काशी में श्री संपूर्णानंद के मकान पर 'आज' के सहकारी संपादक श्री कालिका प्रसाद मुझसे मिलने आये थे और पत्रकारिता के बारे में बातचीत के प्रसंग में उन्होंने एक व्यावहारिक सुझाव दिया था कि फिलहाल इस विषय पर कुछ भाषण भी करा दिये जायें. पत्रकार विधायक भले ही देर से कायम हों. मैंने तभी सोचा था कि मैं इस सुझाव को साहूजी के सम्मुख रख दूंगा.

जैन उत्सव की समाप्ति पर मैं साहूजी से विदा लेने गया. उस समय श्रीमती रमाजी भी वहां विद्यमान थीं. मैंने निवेदन किया कि तीन घंटे बाद मैं वर्धा जा रहा हूं. रमाजी ने उसी समय कहा, "तो आप भोजन हमारे यहां ही करने की कृपा करें." श्रद्धापूर्वक भोजन कराने के लिए वह दंपत्ति विद्यमान थे और बार-बार आग्रह करके मुझे अधिक भोजन करा ही दिया. मौका देखकर मैंने श्री कालिका प्रसाद का सुझाव साहूजी के सामने रख दिया. उसे उन्होंने ध्यानपूर्वक सुन लिया. पर हां या न में उत्तर कुछ भी नहीं दिया. मैंने सोचा कि मेरा निशाना खाली गया. स्टेशन जाने के लिए मोटर का प्रबंध कर दिया गया था और मैं कोठी से नीचे उतरकर उसमें बैठा ही था कि भाई लक्ष्मीचंद्र जैन ने नोटों का एक पुलिंदा मुझे देते हुए कहा, "यह भेंट आपको साहूजी की ओर से है."

वह रकम बारह सौ की थी, जिसमें 200 रुपये मेरे यात्रा व्यय के भी शामिल थे. मैंने उसी दिन एक हजार रुपये कलकत्ता से श्री संपूर्णानंद जी को काशी भिजवा दिये. वे ही पत्रकारिता पर भाषणों की व्यवस्था कर रहे थे. काशी विद्यापीठ में पत्रकारिता की जो कक्षा खुली थी, उसमें उसका सदुपयोग भी हो गया.

श्रीमती रमा जैन की उदारता तथा सुसंस्कृति की जो छाप मुझ पर पड़ी, उसे मैं कदापि नहीं भूल सकता. यह बात तो मुझे आगे चलकर ज्ञात हुई कि श्री साहूजी के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्यों के पीछे प्रेरक शक्ति श्रीमती रमा जैन की ही थी. □

उन्होंने कहा था...

भारतीय ज्ञानपीठ साहित्य पुरस्कार समर्पण समारोहों के अवसर पर तत्कालीन अध्यक्षों, मुख्य अतिथियों द्वारा की गयी महत्वपूर्ण टिप्पणियां—

डॉ. राजेंद्रप्रसाद : 19.11.1962
"इसमें तो कोई कहने की बात ही नहीं कि योजना मुझे बहुत सुंदर लगी. अध्यक्षता संबंधी आपके निमंत्रण को अभी तक मैं इसी कारण से टालता आया कि मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, पर मैं यह भी चाहता हूं कि इस योजना में अब देर नहीं होनी चाहिए. अतः मैं इसकी अध्यक्षता के उत्तरदायित्व को स्वीकार करता हूं."

डॉ. संपूर्णानंद : 19.11.1966
"अब तक कोई ऐसी योजना नहीं थी, जिसके अनुसार समूचे भारत को एक इकाई मानकर किसी भारतीय लेखक का अखिल भारतीय स्तर पर सम्मान किया जा सकता. इस अभाव की पूर्ति अब भारतीय ज्ञानपीठ ने की है."

डॉ. बी. गोपाल रेड्डी : 15.12.1967
"यह पुरस्कार वास्तव में श्रद्धांजलि है संपूर्ण भारतीय साहित्य के प्रति, जो न मन की माया है न कोई कल्पना ही. ज्ञानपीठ ने इसी भारतीय संस्कृति की वंदना के लिए यह एक आदर्श मंदिर तैयार किया है."

श्री मु. हिदायतुल्ला : 20.12.1967
"एक समय था जब साहित्यकारों को राज-दरबारों में मान-सम्मान दिया जाता था. अंग्रेजों के शासन-काल में मान्यता की अर्जना के लिए संघर्ष करना पड़ा. स्वतंत्र भारत में एक ऐसे माध्यम की आवश्यकता थी. जो साहित्यिक प्रतिभाओं को सामने लाये. ज्ञानपीठ यह कार्य कर रही है."

श्रीमती इंदिरा गांधी : 27.11.1970
"साहित्य परंपरा का एक वाहन होता है. विरोध की एक आवाज और परिवर्तन का साधन. जब भी कोई समाज परिवर्तन के लिए समुद्यत होता है, रूढ़िवादियों की आवाज बुलंद होती है. लेखक समुदाय का कर्तव्य है कि इस कट्टरता का कलम से मुकाबला करे और देशवासियों का मार्गदर्शन करे."

श्री व. वें. गिरि : 16.11.1971
"पिछले वर्षों में दिये गये पुरस्कारों को देखते हुए प्रत्यक्ष है कि निर्णय करनेवाली परिषद के सदस्यों के सामने भाषा या प्रांत संबंधी संकुचित विचार नहीं होता. उनका एकमात्र लक्ष्य होता है कि सारे देश के लेखकों में से प्रतिभाशाली का वरण किया जावे. ऐसे सम्मान के द्वारा ही सच्चे मूल्यों को प्राप्त करने की भावना जगेगी."

डॉ. कर्णसिंह : 10.2.1973
"देश में इस समय हर ओर और हर व्यक्ति के मन में गहरी निराशा और घनी उदासीनता छायी है. शिक्षित और बौद्धिक वर्गों में ऐसा और भी अधिक है. इस दुर्व्यवस्था से राष्ट्र को उभारने का दायित्व साहित्यकार का होता है. साहित्यकार को इसलिए भरपूर अवसर दिया जाना चाहिए कि अभीष्ट वातावरण का निर्माण कर सके."

डॉ. नीहाररंजन रे : 8.11.1974
"भारतीय साहित्यिक जीवन और संबंधित दशा को देखते हुए यह सचमुच ही हर्ष और संतोष की बात मानी जानी चाहिए कि ज्ञानपीठ पुरस्कार के लिए जितनी भी पुस्तकें अब तक चुनी गयीं, उन्हें व्यापक रूप से समर्थन मिला है. और यह केवल समाज के उन वर्गों से ही नहीं जो जानकार थे, समझ सकते थे, बल्कि सामान्य पाठक वर्ग से भी."

श्रीमती महादेवी वर्मा : 26.2.1976
"भारतीय साहित्यकारों के सामने आज विज्ञान की दी हुई चुनौतियां खड़ी हैं. विज्ञान देखते-देखते अभिशाप बनता जा रहा है. साहित्यकार का कर्तव्य है कि उसके कृतित्व से यह अभिशाप भी वरदान बन उठे. कोई न कोई रास्ता बचाव का लेखकवर्ग को निकालना ही है."

श्री मोरारजी देसाई : 17.9.1977
"ज्ञानपीठ पुरस्कार से देश में उच्च स्तर के साहित्य सृजन को प्रोत्साहन मिला है, क्योंकि लेखक को एक बड़ी अर्थराशि ही नहीं, इसके माध्यम से राष्ट्रीय गौरव भी प्राप्त होता है."

श्री नीलम संजीव रेड्डी : 28.11.1981
"हम विदेशी लेखकों और साहित्य से तो भली भांति परिचित रहते हैं, किंतु अपने ही विभिन्न राज्यों के भाषा-साहित्य एवं लेखक समाज की ओर से विमुख जैसे रहते हैं. इस दुखद स्थिति का निदान खोजना आवश्यक था. भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा किये गये प्रयत्न श्लाघनीय हैं."
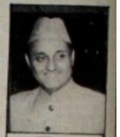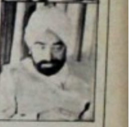
ज्ञानी जैल सिंह : 16.4.1983
"भारतीय साहित्य का देश की विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध होना देश के विचार-चिंतन की मूलभूत एकता का सर्वोपरि प्रमाण है. ज्ञानपीठ के प्रयत्नों ने इस मूलभूत भावात्मक एकता को प्रत्यक्षता भी प्रदान की है, इसके लिए वह सचमुच सराहनीय है."